# ऊहापोह

शान्तिभिक्षुशास्त्री

# ऊहापोह

(शान्तिदेव के प्रसंग में)

शान्तिभिक्षुशास्त्री




बुद्धविहार
लखनऊ
२४९९-१९५५

प्रकाशक--

ग० प्रज्ञानन्द

बुद्धविहार

रिसालदार पार्क

लखनऊ

प्रथमवार

एक हजार प्रतियां

मूल्य १)



मुद्रक

पाइनियर प्रेस, लखनऊ।

# प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक, ऊहापोह, को पाठकों के हाथ में देते हुए हमें विशेष प्रसन्नता होती है। ऊहापोह में संगृहीत सामग्री विश्वभारती शान्तिनिकेतन के अध्यापक शान्तिभिक्षुशास्त्री ने अपनी अनूदित बोधिचर्यावतार की भूमिका के रूप में दी है। इसमें विद्वान् लेखक ने बोधिसत्त्वचर्या के चरम विकास काल पर विचार करते हुए बौद्धतत्त्वज्ञान का प्रारंभिक काल से मध्यकाल के सन्तों तक, लगभग दो हजार वर्षों के विकासक्रम पर विशद विवेचन किया है। पाठक इसमें देखेंगे कि सातवीं आठवीं शती में बौद्धतत्त्वज्ञान किस प्रकार फला-फूला। यह सत्य है कि तत्त्व-दर्शन सर्वसामान्य जनता का विषय नहीं हो सकता। क्योंकि प्रायः यह गूढ़ और जटिल होता है। तथापि इस ओर अभिरुचि रखने वाले तत्त्वग्राही जन की प्रवृत्ति अवश्य होगी। अब तक बौद्ध दर्शन तथा उसके साहित्य के प्रति जो भ्रान्त धारणायें रही हैं उनके निवारण की दिशा में प्रस्तुत पुस्तक से जन-साधारण को सुविधा होगी। इसी भावना से इसे पृथक् पुस्तक का रूप दिया गया है।

यह प्रयास कितनी उपयोगी है यह तो अधिकारी विद्वान् ही कह सकते हैं। पर प्रकाशक के संबंध से इतना ही निवेदन है कि यदि इससे बहुजनहिताय बहुजनसुखाय का लक्ष्य किंचित् भी सिद्ध हो सका तो प्रकाशक अपने प्रयास को सफल समझेगा।

१४-१०-५५
बुद्धविहार,
लखनऊ

भिक्षु ग० प्रज्ञानन्द

# मुखबन्ध

महायान का अध्ययन मैंने आचार्य शान्तिदेव की कृतियों से आरम्भ किया। और समय-समय पर उनके प्रसंग से धर्म और दर्शन की कितनी ही बातों की ऊहापोह की। उस सामग्री का कुछ अंश शांतिनिकेतन से प्रकाशित विश्वभारती पत्रिका में तथा अन्यत्र भी निकला था। बोधिचर्यावतार की भूमिका उसमें से कुछ अंश का गुंफनमात्र है। पाठकों की सुविधा के लिए उसे 'ऊहापोह' के नाम से पृथक् पुस्तक का रूप दिया जा रहा है।

शांतिनिकेतन,
८-१०-५५

शान्तिभिक्षुशास्त्री

# विषय सूची

पृष्ठ



---

# ऊहापोह

## §§१. शान्तिदेव और उनकी कृतियां

### शांतिदेव का जीवनोपाख्यान

आचार्य शान्तिदेव के संबन्ध म हम बहुत ही कम जानते है। संभवतः ये सातवीं शती मे विद्यमान थे। लामा तारानाथ के अनुसार ये गुजरात के किसी राजा के पुत्र थे और कुछ समय तक पंचसिंह राजा के मंत्री रहे थे। अन्त में ये भिक्षु हो गये थे। ये जयदेव के शिष्य थे। जयदेव नालन्दा के पीठस्थविर धर्मपाल के उत्तराधिकारी थे। [A History of Indian Literature by M. Winternitz Vol. II pp. 365-366]

महामहोपाध्याय हरप्रसादशास्त्री ने नेपाल से प्राप्त तीन तालपत्रों के आधार पर इंडियन ऐंटीक्वेरी (Indian Antiquary 42, 1913, pp. 49-55) में शांतिदेव की जीवनी पर एक निबन्ध लिखा था। उससे इतना ही और विशेष मालूम होता है कि शांतिदेव के पिता का नाम मंजुवर्मा था। नालन्दा में ये एक कुटी बनाकर रहते थे। अत्यन्त शांत होने के कारण इनका नाम शांतिदेव था। ये भुसुक नाम की समाधि मे रत रहते थे। अतः इनका नाम भुसुक भी था। (भुंजानोऽपि प्रभास्वरः सुप्तोऽपि कुटीं ततोऽपि तदेवैति भुसुकसमाधिसमापन्नत्वाद् भुसुक नामख्यातिं संघेऽपि p. 50) चर्यागीतियों में भुसुक के पद है। इनके विषय का एक उपाख्यान भी उस जीवनी में है। अत्यन्त शांत एवं सरल होने के कारण छात्र इन्हें बिल्कुल बुद्धू समझते थे। एक दिन धर्मदेशनामंडप में इन्हे आसन पर बिठा दिया। सोचा था कि ये कुछ बोल तो न सकेंगे फिर इन्हें खूब बनाया जायगा। आसन पर बैठकर शांतिदेव ने जिज्ञासा की--किम् आर्षं पठामि, अर्थार्षं वा (=ऋषि वचनों का पाठ करूं अथवा अर्थतः ऋषिवचनों का पाठ करूं) ? यह सुनते ही सब लोग चकित हुए और कहा कि हम लोग आर्ष (=बुद्धवचन) तो बहुत सुन चुके है आप अर्थार्षं (=अर्थतः बुद्धवचन) सुनाइये। अनन्तर इन्होंने बोधिचर्यावतार का पाठ करना प्रारंभ किया। पर जब ये

> यदा न भावो नाभावो मतेः संतिष्ठते पृथक्।
> तदान्यगत्यभावेन निरालम्बा प्रशाम्यति ॥ [९।३५]

इस कारिका का पाठ कर रहे थे, आर्य मंजुश्री प्रकट हुए और विमान पर बैठा कर स्वर्ग लेकर चले गये। नालन्दा के पंडितों और छात्रों में बड़ी खलबली मची। सबने इनकी कुटी खोजी। तीन ग्रन्थ मिले--शिक्षासमुच्चय, सूत्रसमुच्चय और बोधिचर्यावतार। इन सबने इन तीनों ग्रंथों का प्रचार किया।

## शिक्षासमुच्चय

आज शांतिदेव की दो कृतियां प्राप्त है—शिक्षा समुच्चय * और बोधिचर्यावतार। शिक्षासमुच्चय में आचार्य ने सत्ताईस कारिकाओं द्वारा महायान की धार्मिकचर्या का स्वरूप सूत्र रूप में उपस्थित किया है फिर उन सूत्रों के चारों ओर महायानसूत्रों के उद्धरणों की राशि एकत्रित कर दी है। ये उद्धरण आज अध्ययन की अमूल्य निधि हैं। कारिकाओं मे महायान धर्म का जो निरूपण हुआ है उसे यहां ग्रन्थ मे प्रवेश कराने के निमित्त दिया जा रहा है।

बोधिसत्त्व सोचता है कि भय और दुःख न तो मुझे ही प्यारा है और न दूसरों को ही। फिर भला मुझमें कौन सी विशेषता है जो मैं दूसरों की तो रक्षा नहीं करता पर अपनी रक्षा मे लगा रहता हूँ। दुःख का अन्त करने और सुख का छोर पाने की इच्छा से श्रद्धा के मूल को दृढ़ करके बोधि पाने के लिए दृढ़ यत्न करना चाहिए। बोधिसत्त्व का कर्तव्य है कि आत्मभाव (=शरीर), भोग और त्रैकालिक पुण्यों का प्राणियों के लिए उत्सर्ग कर दे। पर उत्सर्ग तभी हो सकता है जब वह उनकी रक्षा, शुद्धि और वृद्धि कर सके। फलतः रक्षा, शुद्धि और वृद्धि का उद्देश्य है उनका प्राणिहित के लिए उत्सर्ग कर देना। यदि इनकी रक्षा न की गयी तो भोग संभव ही कहां और वह दान ही कैसा जिसका कि भोग नहीं। अतः प्राणियों को भोग लाभ हो सके, सिर्फ इस ख्याल से इनकी रक्षा बहुत जरूरी है। रक्षा करने मे सूत्रों के अध्ययन तथा कल्याण मित्रों की संगति से बहुत सहायता मिलती है। (कारिका १—६) अगली कारिकाओं में बोधिसत्त्व के कर्तव्यों का साधन सहित निर्देश यों हुआ है—

| कर्तव्य | साधन |
|---|---|
| (१) आत्मभाव की रक्षा अर्थात् दुष्कर्म-परित्याग | प्राणिमात्र की सेवा को छोड़ सब दूसरे कार्य निष्फल हैं और उन निष्फल कार्यों के त्याग से ही मनुष्य अपनी पूरी रक्षा कर पाता है। स्मृति या जागरूकता से इस अनर्थ का त्याग पूर्णतया सिद्ध हो पाता है। स्मृति उत्कट-आदर या श्रद्धा से होती है। श्रद्धा ज्ञान सहित उत्साह से उत्पन्न होती है जो शम या शांति की महान् आत्मा है। समाहित पुरुष को यथार्थ ज्ञान हुआ करता है और इन ज्ञान के कारण बाह्य चेष्टाओं के रुक जाने से मन शांति से विचलित नहीं होता। बोधिसत्त्व को चाहिए कि सर्वत्र शांत रहे। धीमी-धीमी, मापी-जोखी और स्नेह भरी बातों से सज्जनों का मन नरम बनाये रहे। ऐसा करने से लोग उसे चाहते हैं। लोक में उस जिनांकुर (=बोधिसत्त्व) |

* संपादक Cecil Bendal M.A, St. Pètersbou g, (1897-1902)

को जो नहीं चाहता वह राख दबी नरकों की आग में पचता रहता है। बोधिसत्त्व को चाहिए कि जिन बातों से लोग असन्तुष्ट हों उनका यत्न के साथ परित्याग कर दे और इसीलिए तथागत ने संक्षेप से रत्नमेघसूत्र में बोधिसत्त्व के सदाचार का निरूपण किया है। भैषज्य से (मांस-मछली से नहीं) और वस्त्र से ही यह आत्मभाव की रक्षा करनी होती है। भोगों का सेवन भी शरीर-रक्षा के लिए ही करना होता है, तृष्णापूर्ति के लिए नहीं। भोग में तृष्णा रखने से क्लिष्टापत्ति होती है--बड़ा पाप लगता है। [कारिका ७--१३]

(२) भोगरक्षा — पूर्ण रूप से उपायों को जानकर पुण्य करते रहना चाहिए। इस शिक्षापद का आचरण करने से भोगरक्षा सुकर और सहज हो जाती है। [कारिका १४]

(३) पुण्यरक्षा — अपने लिए फल की तृष्णा न रखने से पुण्यों की रक्षा होती है। पुण्य करके कभी पछतावा न करना चाहिए कि मैंने यह क्यों किया, न करता तो भी क्या बिगड़ा जाता था। पुण्य करके उसका ढिंढोरा भी न पीटना चाहिए। बोधिसत्त्व को चाहिए कि लाभ और सत्कार से डरता रहे। अभिमान का त्याग कर दे। धर्म में श्रद्धालु रहे तथा धर्म में अविश्वास न करे [कारिका १५--१६]

(४) आत्मभावशुद्धि — आत्मभाव के शुद्ध हो जाने पर भोग उसी तरह पथ्य होता है जैसे देहधारियों के लिए पका भात, जिसमें किनकी नहीं रहती, हितकर होता है। तृणों से ढकी खेती जैसे रोगों से क्षीण हो जाती है, फलती-फूलती नहीं, वैसे क्लेशों से ढका बुद्धांकुर नहीं बढ़ता। पाप रूपी क्लेशों का शोधन करना ही आत्मभाव की शुद्धि है। बुद्ध-वचनों का सार समझ कर उसके अनुसार यत्न न करने से मनुष्य को दुर्गति भुगतनी पड़ती है। क्षमाशील रहना चाहिए। शास्त्र सुनना चाहिए। वन का आश्रय ले समाधि के लिए यत्न करना चाहिए। समाधि--योग करना चाहिए। संसार के प्रति अशुभ-बुद्धि रखनी चाहिए। [कारिका १७--२०]

(५) भोगशुद्धि — सम्यगाजीव अर्थात् जीविका के समीचीन साधनों की शुद्धि से भोग-शुद्धि होती है। [कारिका २१ पूर्वार्ध]

(६) पुण्यशुद्धि — शून्यतादृष्टि तथा करुणाचित्त से (लोक हितार्थ) कार्य

करने से पुण्य-शुद्धि होती है। [कारिका २१ उत्तरार्ध]

(७) आत्मभाववृद्धि — लेने वाले बहुत हैं। देने के लिए यह छोटा सा आत्म-भाव। इससे बनेगा क्या? किसी की पूरी तृप्ति नहीं होगी। इसलिए इसे बढ़ाना होगा। बल और अनालस्य का बढ़ाना ही आत्मभाव की वृद्धि है। [कारिका २२–२३ पूर्वार्ध]

(८) भोगवृद्धि — शून्यतादृष्टि तथा करुणाचित्त द्वारा दान करने से भोग-वृद्धि होती है। [कारिका २३ उत्तरार्ध]

(९) पुण्य वृद्धि — आरंभ से ही दृढ़ संकल्प और दृढ़ चित्त से करुणाभाव को आगे करके पुण्य-वृद्धि करनी चाहिए। श्रद्धा सहित भद्रचर्या-विधि करनी चाहिए। वंदना, पापदेशना, पुण्यानुमोदना और अध्येषणा का नाम भद्रचर्या है। श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा बलों का अभ्यास करना चाहिए। चारों ब्रह्म-विहारों की भावना करनी चाहिए। बुद्धानुस्मृति, धर्मानु-स्मति संघानुस्मृति, त्यागानुस्मृति, शीलानुस्मृति और देवानुस्मृति रखनी चाहिए। सब अवस्थाओं में निरामिष धर्मदान और बोधिचित्त पुण्यवृद्धि के कारण हैं। चार सम्यक् प्रहाणों द्वारा प्रमाद न करने से, स्मृति और संप्रजन्य तथा गंभीर चिन्तन से मनुष्य को सिद्धि प्राप्त होती है। [कारिका २४––२७]

## बोधिचर्यावतार

शिक्षा समुच्चय तथा बोधिचर्यावतार का विषय एक ही है। भेद निरूपण शैली में है। बिना काव्य का प्रयत्न किये ही आचार्य ने उसे धर्म का काव्य बना दिया है। इसके अतिरिक्त बोधिचर्यावतार तथा शिक्षासमुच्चय दोनों ही एक दूसरे के पूरक भी हैं। शून्यवाद का प्रतिपादन बोधिचर्यावतार में है पर शिक्षासमुच्चय में उसका नाम-कीर्तन मात्र है। शिक्षासमुच्चय सूत्रों के उद्धरणों से विपुल ग्रन्थ हो गया है पर बोधिचर्यावतार मे सूत्रों का यत्र-तत्र संकेत ही है। समूचा बोधिचर्यावतार नौ सौ तेरह श्लोकों में परिनिष्ठित हुआ है। जिसका विरण यों है ––

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| प्रथम | परिच्छेद | बोधिचित्तानुशंसा | श्लोक-संख्या | ३६ |
| द्वितीय | ,, | पापदेशना | ,, | ६६ |
| तृतीय | ,, | बोधिचित्तपरिग्रह | ,, | ३३ |
| चतुथ | ,, | बोधिचित्ताप्रमाद | ,, | ४८ |
| पंचम | ,, | संप्रजन्यरक्षण | ,, | १०९ |
| षष्ठ | ,, | क्षान्तिपारमिता | ,, | १३४ |
| सप्तम | ,, | वीर्यपारमिता | ,, | ७५ |
| अष्टम | ,, | ध्यानपारमिता | ,, | १८६ |
| नवम | ,, | प्रज्ञापारमिता | ,, | १६८ |
| दशम | ,, | परिणामना | ,, | ५८ |
| | | | | ९१३ |

बोधिचर्यावतार किसी समय बहुत लोकप्रिय ग्रन्थ था। इसी कारण इस पर अनेकों टीकाएं हुई थीं। भोट देश में इस ग्रन्थ का पाठ आज भी गीता की भांति होता है। महायान धर्म और दर्शन को सहजभाव से समझने के लिए यह बहुत ही उत्तम ग्रंथ है।

आचार्य शान्तिदेव जिस समय हुए थे वह समय ऐसा था जब बौद्धधर्म पूर्ण-रूप से विकसित हो चुका था तथा उसमें उन सब धर्मबीजों का वपन हो चुका था, जिनसे कि गांधी-युग से पूर्व का संतों से प्रभावित हिन्दू-धर्म फूला-फला है। इस धर्म में सुभाषितों का बहुत आदर था तथा प्रत्येक सुभाषित जो जाति-कुल आदि के अभिमान से अछूते रह कर मनुष्य को उदात्त भावों की ओर ले जाते थे उन्हें बुद्धवचन मान लिया जाता था*। धर्म में तांत्रिक प्रवृत्तियों का समावेश हो चुका था तथा शून्यवाद अपनी पराकाष्ठा को पहुँच चुका था। एक ओर जहां यह सब हो रहा था वहां इस धर्म के सारभाग को ग्रहण करते हुए भी महाभारत और पुराणों के माध्यम से इस धर्म का, विशेष रूप से संसारवैमुख्य तथा जातिवाद-निराकरण के विरोध में भी कार्य हो रहा था। इस प्रतिक्रिया की परिनिष्ठा हम तुलसी के 'मानस' में देखते है। इन सब प्रवृत्तियों के विकास की रूपरेखा यहां प्रस्तुत करना आवश्यक है जिसे 'आगमप्रामाण्य का विकास', 'बौद्धधर्म में तांत्रिक प्रवृत्तियों का प्रवेश और विकास', 'ब्राह्मणप्रमुख धर्म में बौद्धधर्म की प्रतिक्रिया के चिह्न' तथा 'भारत के दार्शनिक विकास की पड़ताल' शीर्षकों में विभक्त कर प्रस्तुत किया जा रहा है।

## §§२. आगमप्रामाण्य का विकास

"यत् किंचित् सुभाषितं सर्वं तद् बुद्धभाषितम्"†

बौद्ध और जैन वेदागम को प्रमाण नहीं मानते, वे अपने-अपने आगमों को प्रमाण मानते हैं। इस तरह ब्राह्मण, बौद्ध श्रमण तथा जैन श्रमणों में जो परस्पर भेद है वह आगम के कारण है। और यह आगम का भेद इसलिये हुआ कि आगम प्रवर्तकों के दार्शनिक विचारों में ही नहीं प्रत्युत् धर्म के व्यावहारिक रूप पर भी भिन्न-भिन्न मत थे। व्यावहारिक और दार्शनिक मतभेदों की चर्चा यहां नहीं की जा सकती पर स्वर्ग-नरक, आवागमन, मोक्ष जैसी बातों में भी जिन पर जनता का बहुत विश्वास था तथा जिनकी चर्चा श्रमण-ब्राह्मण समान भाव से करते थे—परस्पर बहुत भेद था। अदृष्ट या न दिखाई पड़ने वाली बातों के भेद की पुष्टि केवल आगमों द्वारा ही होती थी और हर सम्प्रदाय के लिए उनकी पुष्टि करना जरूरी भी था। अन्यथा अलग-अलग आगमों का टिकना संभव न था। इस तरह

---

* यदर्थवद् धर्मपदोपसंहितं त्रिधातुसंक्लेशनिबर्हणं वचः।
भवेच्च यच्छान्त्यनुशंसदर्शकं तदुक्तमार्षं विपरीतमन्यथा॥
(बोधिचर्यावतारपंजिका पृष्ठ ४३२)

† वही, पृष्ठ ४३२

अदृष्ट–विषयक भेदों के समर्थन के लिए भिन्न-भिन्न आगमों का रहना जहां जरूरी था वहां उन-उन आगमों को प्रामाणिक या श्रेष्ठ बतलाना भी बहुत अपेक्षित था क्योंकि बिना ऐसा किये उन आगमों की अनुयायी जनता का विश्वास दृढ़ नहीं किया जा सकता था। जनता के विश्वास को दृढ़ करना श्रमण-ब्राह्मणों के लिए बहुत जरूरी था। जनता के सहारे ही वे जीते थे। यदि जनता का उन पर से विश्वास उठ जाय तो यह उनके लिए बहुत ही हानि की बात थी। दक्षिणा-दान-भिक्षा के साथ जनता से जो मान-पूजा की प्राप्ति होती थी उसकी रक्षा के लिए उनके लिए जैसे भी हो, जनता के विश्वास को अबाध रखना अपेक्षित था।

आगमों की प्रामाणिकता और श्रेष्ठता बतलाने के लिए सब सम्प्रदायों ने बड़ा प्रयत्न किया। इस प्रयत्न के फलस्वरूप जिन सिद्धांतों का उदय हुआ, वे यों हैं —

[अ] वेदागम–प्रामाण्य के समर्थक सिद्धांत
- I. अपौरुषेयवाद (=अकर्तृत्ववाद)
- II. पौरुषेयवाद (=कर्तृत्ववाद)
  - १. सर्वज्ञ-ईश्वर–कर्तृत्ववाद
  - २. आप्तकर्तृत्ववाद (=यथार्थज्ञ–मनुष्य–कर्तृत्ववाद)

[इ] जैनागम-प्रामाण्य-समर्थक-सिद्धांत
- ३. सर्वज्ञवाद

[उ] बौद्धागम-प्रामाण्य-समर्थक सिद्धांत
- ४. धर्मज्ञवाद

इन वादों में कौन पहले और कौन पीछे उत्पन्न हुआ, यह बतलाना बहुत कठिन है, त्रिपिटक में प्राचीन ऋषियों को वेद का कर्ता बताया है। अष्टक, वामक, वामदेव, विश्वामित्र, यमदग्नि, अंगिरा, भरद्वाज, वसिष्ठ, कश्यप और भृगु को तेविज्जसुत्त (दीघनिकाय) में मन्त्रों का कर्ता कहा गया है। मन्त्रकर्ताओं के इन नामों का इसी क्रम से त्रिपिटक में और भी कितनी ही जगहों पर उल्लेख है। बुद्ध से पहले (लगभग ६००ई० पू०) यास्क ने अपने निरुक्त में ऋषियों को ही मन्त्रों का प्रवक्ता कहा है—

साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः। (अध्याय १ खंड २०)।

ऋषि हुए वे जिन्होंने धर्म का साक्षात्कार किया था। उन्होंने उपदेश द्वारा उन लोगों को मंत्र प्रदान किये जिन्होंने धर्म का साक्षात्कार नहीं किया था और (इसी कारण जो उन ऋषियों की अपेक्षा) अवर (=हीन) थे।

यास्क ने इतना ही नहीं प्रत्युत ऋषि-परम्परा पर प्रकाश डालते हुए यह भी बताया कि जो लोग धर्म के साक्षात्कार करने वाले नहीं थे वही प्राचीन ऋषियों के उपदेश या मंत्रों को लेकर ग्रन्थ-रचना करने लगे —

उपदेशाय ग्लायन्तो अवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदांगानि च। (निरुक्त अध्याय १—खण्ड २)

उपदेश ग्रहण में असमर्थ उन अवर (=हीन) लोगों ने इस ग्रंथ (= निघण्टु) तथा वेद और वेदांगों का संग्रह किया जिनसे स्पष्टतया ज्ञान हो सके !

जो बात यास्क ने कही है उसी से मिलती-जुलती बात अग्गञ्ञसुत्त (दीघनिकाय) मे आयी है : "वे (ब्राह्मण) जंगल में पर्णकुटी बना कर वहीं ध्यान करते थे।........उनमे से कितने ध्यान न पूरा कर सकने के कारण ग्राम या निगम के पास आकर ग्रन्थ बनाते हुए रहने लगे।........ उस समय वह नीच समझा जाता था; किन्तु आज वह श्रेष्ठ समझा जाता है।"

यास्क और बुद्ध के इन वचनों की तुलना करें तो उसका निष्कर्ष यों होगा--

| यास्क | बुद्ध |
|---|---|
| (१) धर्म का साक्षात् करने वाले ऋषि। | (१) ध्यान करने वाले ब्राह्मण। |
| (२) धर्म का साक्षात् न करने वाले लोग, और उनका ऋषियों से उपदेश लेना। | (२) ध्यान पूरा न करने वाले ब्राह्मण। |
| (३) धर्म का साक्षात् न करने वालों के द्वारा ग्रन्थ-रचना। | (३) ध्यान न पूरा करने वालों द्वारा ग्रन्थ-रचना। |
| (४) × | (४) ग्रन्थ-रचना के कार्य की पूर्व युग में निन्दा। |
| (५) × | (५) ग्रन्थ-रचना के कार्य की बुद्धयुग में प्रशंसा। |
| (६) ग्रन्थ-रचना का उद्देश्य था स्पष्टतया ज्ञान प्राप्ति का साधन प्रस्तुत करना। | (६) × |

इस तुलना से साफ जान पड़ता है कि यास्क और बुद्ध ने एक ही बात कही है। यास्क के विचार से ऋषियों ने ही मन्त्रों का उपदेश दिया और उन्हीं की परम्परा मे चलकर वेदों और वेदांगों का निर्माण हुआ। बौद्ध परम्परा भी यास्क की बात का ही समर्थन करती है। बुद्ध और उनके पूर्ववर्ती यास्क को यही पता था कि ऋषियों ने ही मन्त्रों की रचना की है। भले ही ऋषियों ने मंत्रों की रचना की हो और भले ही यास्क जैसे कुछ बुद्धिमान् इस बात को स्वीकार करते रहे हों पर जैमिनि और बादरायण क मत इस बात में सर्वथा भिन्न है। जैमिनि के विचार से वेद किसी ने नहीं बनाये। जैमिनि ने अपनी बात का समर्थन करने के लिए सारी परम्परा को ही उलट दिया। जैमिनि के समय में लोग यह मानते थे कि वेद के रचयिता ऋषि ही है। पूर्वपक्ष के रूप में उन्होंने इसका यों उल्लेख किया है --

वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्या। (पू० मी० १।१।१७)

सूत्र का भावार्थ--'वाल्मीकीय' रामायण शब्द में वाल्मीकीय का अर्थ है वाल्मीकि की बनायी हुई (रामायण)। इसी तरह वैदिक ग्रंथों के साथ काण्व, शौनकीय, कौथुमीय, काठक, तैत्तिरीय आदि शब्द जुड़े दिखायी पड़ते हैं जिनका अर्थ है कण्व, शौनक कौथुम, कठ, और तित्तिरि की कृति। वैदिक ग्रंथों के साथ इस तरह के अनेकों

नाम जुड़े हैं जिनसे पता चलता है कि उनकी रचना, संकलन और सम्पादन उन-उन ऋषियों के द्वारा हुआ है।

जैमिनि को यह मत पसन्द नहीं है। उन्होंने साफ-साफ कहा--

आख्या प्रवचनात् ॥ (पू० मी० १।१।३०)

वैदिक ग्रंथों के साथ जो उनके नाम जुड़े हैं उनका इतना ही अभिप्राय है कि उन-उन ऋषियों ने उन-उन ग्रंथों (या मंत्रों) का प्रवचन किया--दूसरों को सिखाया और पढ़ाया; उसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि उन-उन मंत्रों और ग्रंथों की रचना भी उन्होंने की। इस तरह वेदों को किसी की रचना न मान कर जैमिनि ने जिनकी प्रतिभा से मन्त्रों का उदय हुआ तथा वेदों का संकलन एवं सम्पादन हुआ उन ऋषियों के यश पर प्रहार किया तथा उन्हें कोरा तोते के समान वेदों को रट-रट कर दूसरों को रटा देने वाला बताकर ठीक उन श्रोत्रियों ( - वेद-पाठकों) के समकक्ष बना दिया जिनका उपहास करते एक कवि ने कहा है--

"राजमाषनिभैर्दन्तैः कटिविन्यस्तपाणयः ।
द्वारि तिष्ठन्ति राजेन्द्र छान्दसा. श्लोकशत्रवः ॥"

(राजन्! द्वार पर श्लोक के शत्रु वेदपाठी कमर पर हाथ रखे दांत--राज-माष के समान दांत--निपोरे खड़े हैं।)

वेदों को किसी की रचना न मानने के सिद्धांत का नाम ही अपौरुषेयवाद है। यद्यपि किसी भी बुद्धिमान् की समझ में इस बात का आना कठिन ही नहीं असम्भव भी हो सकता है पर उस पूर्व युग में इस ढंग की वार्ता का होना कुछ भी अचरज की बात नहीं थी। इस तरह की असम्भव और अनहोनी बातों का बखान करने मे जैमिनि और उनके अनुयायियों को कुछ भी संकोच नहीं हुआ और वे यही समझते रहे कि इस अपौरुषेयवाद के सिद्धांत का आविष्कार कर उन्होंने नाम कमाया है--यश पिया है (यशः पीतम्)। एक परवर्ती तार्किक जयन्त भट्ट ने क्षुब्ध होकर मीमांसकों के प्रति कहा: हां, आप लोगों ने यश जरूर पिया है! आप लोग चाहे यश पियें, चाहे दूध पियें, और चाहे अपनी बुद्धि की जड़ता दूर करने को ब्राह्मी घृत पियें पर इस बात पर संदेह करने की गुंजाइश नहीं है कि वेद की रचना किसी न किसी पुरुष के द्वारा हुई है। भले ही उसकी रचना में कुछ विलक्षणता हो पर विलक्षणता के बल पर यह कह देना कि उसकी रचना किसी ने की ही नहीं, यह तो बिल्कुल नयी सूझ है:--

"मीमांसका यशः पिबन्तु पयो वा पिबन्तु बुद्धिजाड्यापनयनाय ब्राह्मीघृतं वा पिबन्तु। वेदस्तु पुरुषप्रणीत एव नात्र भ्रान्तिः। .............वैचित्र्यमात्रेण वेदे कर्त्र-भावो रूपादेव प्रतीयते इति नूतनेयं वाचो युक्तिः।"

--न्यायमञ्जरी, आह्निक ४.

अपौरुषेयवाद के सिद्धांत का सहारा लेकर 'वेद नित्य है' का सिद्धांत भी उठ खड़ा हुआ। जिनके मत में वेद किसी की रचना नहीं, उनके मत से वेद को नित्य

होना ही चाहिए। पर वेद की नित्यता केवल यह कहकर नहीं सिद्ध की गयी : "चूंकि वेदों की रचना करने वाला कोई नहीं है इसलिए वे नित्य है," किन्तु उनकी नित्यता सिद्ध करने के लिए शब्द (=वर्ण) मात्र को मीमांसकों ने नित्य माना। यहां शब्द (=वर्ण) की नित्यता आदि के झंझट में फंसना ठीक न होगा पर यदि उन्हें नित्य मान लिया जाय, उन्हें ही नहीं वर्णों से बने पदों तक को भी नित्य मान लिया जाय तो भी वाक्यों की नित्यता सिद्ध करना कठिन कार्य है। वेद के वर्ण, पद और वाक्यों को नित्य मानना पर अश्वघोष और कालिदास के ग्रंथों में उन्हें अनित्य मानना सचमुच निराली सूझ है। शाब्दिक नित्यवाद को इस जगह छेड़ना ठीक न होगा। यहां उसका उल्लेख कर देने का केवल इतना ही प्रयोजन है कि इस वाद का अपौरुषेयवाद से बहुत संबंध है। इन दोनों वादों का जैमिनि ने प्रतिपादन किया है। बादरायण को भी जैमिनि से विरोध नहीं है। देवताधिकरण में बादरायण ने साफ-साफ वैदिक नित्यत्ववाद का प्रतिपादन किया है। वेद की नित्यता और उसकी अपौरुषेयता द्वारा जैमिनि और उनके अनुयायियों ने भले ही वेद के प्रति लोगों की श्रद्धा को न डिगने दिया हो पर वादों द्वारा साधारण जनता को ही नहीं बुद्धिमानों की बुद्धि पर पोथी-भार लाद कर बुद्धि के विकास को जरूर कुंठित किया। यदि वेदों के प्रति यह धारणा बनी रहती कि वे पूर्वयुग के पुरुषों की रचनाएँ हैं और वे भी हमारे जैसे ही थे, उनमें भी सब गुण ही गुण न थे; तो कदाचित् वेद के अनुयायियों को बहुत विचार-स्वतन्त्रता रहती और वेद की बातों को मानने या न मानने में उन्हें कोई मजबूर न कर सकता। जैमिनि के पहले इतनी मजबूरी थी भी नहीं। वेद के वचनों को लोग ऋषियों की कृति मानते थे और वेद की आज्ञा को राजाज्ञा के समान मानने को तैयार न थे। उनमें उस समय इतनी हिम्मत थी कि वे कह सकें कि मन्त्रों की रचना में कितनी जगह अर्थ स्पष्ट नहीं है, कितनी ही जगह विरोध है —

"अथापि विप्रतिषिद्धार्था भवन्ति .......अथाप्यविस्पष्टार्था भवन्ति।"

—निरुक्त, अध्याय १ खंड १५

वेदों के संबंध में यह और इस तरह की आलोचनाओं से संबंध रखनेवाले दूसरे विचार यास्क ने अपने निरुक्त में संकलित किये हैं। जैमिनि ने भी इस तरह के विचारों को पूर्वपक्ष के रूप में रखकर उन्हें मरने से बचाया है। वे विचार इतना तो प्रकट कर ही देते हैं कि वेद को कितने लोग अपौरुषेय या नित्य न मानकर प्राचीन ऋषियों की रचना मानते थे और उस रचना में उन्हें बहुत से दोष भी दिखलाई पड़ते थे।

विचार स्वतन्त्रता की हत्या जैमिनी ने वेदों को अपौरुषेय और नित्य सिद्ध करके की, पर वे लोग जो किसी भी आगम को नित्य और अपौरुषेय नहीं मानते थे दूसरे तरीके से वही बात करने में न चूके। जैमिनि का ख्याल था कि जो अपौरुषेय एवं नित्य है वही निर्भ्रान्त है, उसमें किसी भूल-चूक की गुंजाइश नहीं। अक्षपाद और कणाद के अनुयायियों को यह बात न जंची। उन्होंने सोचा कि अपौरुषेयता और नित्यता को तर्क और बुद्धि से सिद्ध करना कठिन है, इसलिए

२

वेदों का रचयिता तो कोई-न-कोई होना चाहिए और उन्होंने ईश्वर को वेद का रचयिता माना। उनके ख्याल से ईश्वर का ज्ञान पूर्ण और नित्य है, इसलिए यदि वेदों को उसकी रचना मान लिया जाय तो वेदों की प्रामाणिकता भी सिद्ध होगी और वेदों में कोई भूल-चूक भी न निकाल सकेगा। यद्यपि भूल-चूक निकालने वाले लोग सदा बने ही रहते हैं। वे केवल इतने भर से चुपचाप नहीं बैठ सकते कि वेद अपौरुषेय हैं या वेद किसी सर्वज्ञ एवं निर्भ्रान्त पुरुष अथवा ईश्वर की रचना है। अक्षपाद ने इस प्रकार के मत को पूर्वपक्ष के रूप में उद्धृत किया है। उसमें कहा गया है कि वेद की बातें सच्ची नहीं उतरतीं। पुत्र-उत्पत्ति के लिए पुत्रेष्टि यज्ञ करना चाहिए यह वेद की आज्ञा है पर पुत्रेष्टि यज्ञ करने वालों को भी बहुत करके पुत्र नसीब नहीं होता। यह बात वेद को झूठा साबित करती है। --उसमें अनृत--दोष है, इस बात को प्रकट करती है। अक्षपाद ने इस बात को यह कहकर उड़ा दिया है कि पुत्रेष्टि यज्ञ करने में कुछ गड़बड़ी हो जाने के कारण यदि पुत्र नहीं हुआ तो उसमें ठीक-ठीक यज्ञ न करने वालों का दोष है। इससे वेद की सचाई पर कुछ भी धब्बा नहीं लगता। (विस्तार के लिए देखिए---न्यायसूत्र, अध्याय २ आह्निक १ सूत्र ५८---६१)।

जिन लोगों ने ईश्वर को आगमों का प्रवर्तक न मान मनुष्यों को ही उनका प्रवर्तक माना उन्होंने भी विचार-स्वतन्त्रता पर कम आक्रमण नहीं किया। सांख्य सम्प्रदाय में कपिल को आप्त या यथार्थज्ञ माना। जो बात कपिल ने कही, वही प्रामाणिक है दूसरी नहीं। कपिल के अनुयायियों ने कपिल को लोकोत्तर स्थान पर बिठाया तो, पर वे वेद के विरोध में कुछ भी बोलने को तैयार न थे। फलतः उन्होंने यह भी कहा कि कपिल का उपदेश सर्वथा वेदानुकूल है। इस तरह कपिल को वेदानुकूल बताकर उन्होंने कपिल की बुद्धि का अपमान किया। परम्परा में कपिल को आदि विद्वान् कहा जाता है, पर उनके अनुयायियों को कपिल की विद्वत्ता वेद के उच्छिष्ट भोजन से अधिक नहीं जंची। कपिल को एक स्वतन्त्र विचारक न मानकर उनको वेद की बातों को दुहरानेवाला बताने पर भी वेद के कट्टर अनुयायियों द्वारा वे कपिल को वैदिक न सिद्ध करा सके। बादरायण ने अपने सूत्रों में अनेक स्थानों पर साफ-साफ कपिल के मत को वेद-विरोधी बताया। जो भी हो, इतना तो कहा जा सकता है कि सांख्य वालों ने एक बार हिम्मत कर अपौरुषेयता और ईश्वरीयता के पचड़े से अपने को निकाला, भले ही वैदिकता का ममत्व उनसे नहीं छूटा।

विचार-स्वतन्त्रता में बौद्ध और जैन वैदिकों से कुछ बढ़े हुए थे। कुछ, इसलिए कि उन्होंने वेद और ईश्वर से छुटकारा तो जरूर पा लिया, पर अपने-अपने धर्मप्रवर्तक के वचनों को उसी तरह प्रमाण माना जिस तरह वैदिकों ने वेद को। फलतः उनकी मानसिक दासता पूरे तौर पर दूर न हो पायी। वे एक बंधन से छूटे पर दूसरे में बंधे। यहां संक्षेप से यह देखना है कि जैनों और बौद्धों का अपने शास्ता के प्रति क्या झुकाव है।

जैन लोग आरम्भ से ही अपने धर्म के प्रवर्त्तक वर्धमान महावीर को सर्वज्ञ मानते थे। 'अचारांग सूत्र' में कहा है :—

"से.....जिणे केवली सव्वन्नू सव्वभावेदरिसी"

वे केवली जिन सर्वज्ञ और सब पदार्थों के द्रष्टा है। 'आवश्यक निरुक्ति' में कहा है —

"तं नत्थि जं न पासइ भूयं भव्वं भविस्सं च"। (गाथा १२७)

भूत, भविष्यत् और वर्तमान की कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है जिसे वे नहीं जानते।

बौद्ध साहित्य से भी वर्धमान महावीर के सर्वज्ञ होने की प्रसिद्धि पर प्रकाश पड़ता है। 'मज्झिमनिकाय' के 'चूलदुक्खक्खन्धसुत्त' (सूत्र १४) में कहा गया है कि "निगण्ठ नाथपुत्त (=जैन तीर्थंकर महावीर) सर्वज्ञ" (है)। 'सन्दकसुत्त' (७६) में यही बात मजाक के साथ दुहरायी गयी है। "एक शास्ता सर्वज्ञ.......होने का दावा करते हैं......वह सूने घर में जाते हैं, (जहां) भिक्षा भी नहीं पाते, कूकुर भी काट खाता है। ........(सर्वज्ञ होने पर भी) ......गांव-कस्बे का नाम और रास्ता पूछते हैं।"

बौद्ध लोग बुद्ध को सर्वज्ञ मानते है। यद्यपि त्रिपिटक में कुछ उल्लेख ऐसे भी हैं जिनमे बुद्ध ने अपनी सर्वज्ञता से इन्कार किया है। 'तेविज्ज वच्छगोत्त सुत्त' (मज्झिमनिकाय सूत्र ७१) में बुद्ध ने कहा है: "जो कोई मुझे ऐसा कहते हैं—श्रमण गौतम सर्वज्ञ है।'.... (वे) असत्य (-अभूत) से मेरी निन्दा करते हैं।" पर इतने उल्लेख भर से बुद्ध की सर्वज्ञता से इनकार नहीं किया जा सकता और किया भी कैसे जाय ? सर्वज्ञता के सूचक वचन तो जा-बजा त्रिपिटक में भरे पड़े हैं। नागसेन ने अपने 'मिलिन्दपञ्ह' में बुद्ध को सर्वज्ञ बताया है —"....बुद्ध सर्वज्ञ थे। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वे हर घड़ी हर तरह से संसार की सभी बातों की जानकारी बनाये रखते थे। उनकी सर्वज्ञता इसी में थी कि ध्यान करके वे किसी भी बात को जान ले सकते थे।" (हिन्दी मिलिन्द प्रश्न पृ० १२९)। जिस तरह की बात नागसेन ने कही है वैसी ही बात 'कण्णत्थलकसुत्त' (मज्झिमनिकाय सूत्र ९०) मे कही गयी है, "ऐसा श्रमण-ब्राह्मण नहीं जो एक ही बार सब जानेगा। यह संभव नहीं।" एक बार में न सही, पर जब जो कुछ जानना जरूरी हो, तब उसको जान लेना बुद्ध के लिए संभव है। इस तरह तीर्थंकर की सर्वज्ञता और बुद्ध की सर्वज्ञता मे कुछ भेद रह गया। तीर्थंकर सदा सब कुछ देखते रहते हैं और बुद्ध जब जिसकी जरूरत पड़ती है तब देख या जान लेते हैं। शांतरक्षित ने और 'तत्त्वसंग्रह' में इस बात को दोहराया है —

"यद्यदिच्छति बोद्धुं वा तत्तद्वेत्ति नियोगतः।
शक्तिरेवंविधा तस्य प्रहीणावरणो ह्यसौ ॥"

समाधि द्वारा वे जिस बात को जानना चाहते है जान लेते हैं। उनकी शक्ति ऐसी ही है। उनका आवरण (=अज्ञान) दूर हो चुका है।

बुद्ध को सर्वज्ञ मानते हुए भी बौद्धों ने सर्वज्ञता पर जोर नहीं दिया है। सर्वज्ञता की अपेक्षा धर्मज्ञता पर ही जोर दिया गया है। धर्मकीर्ति ने 'प्रमाण-वार्तिक' में कहा है कि बुद्ध को बौद्ध इसलिए प्रमाण मानते हैं कि वे उपायसहित हेय और उपादेय तत्त्वों को बतलाते हैं। इसलिए नहीं कि वे सब कुछ जानते हैं—

हेयोपादेयतत्त्वस्य साभ्युपायस्य वेदकः ।
यः प्रमाणमसाविष्टो न तु सर्वस्य वेदकः ।।

भारतीय दर्शन की बौद्ध और जैन शाखा ही नहीं दूसरी शाखायें भी इस सर्वज्ञतावाद से अछूती नहीं बची हैं। मीमांसा के दूसरे सूत्र "चोदनालक्षणऽर्थो धर्मः" पर शबर ने कहा है कि वेद के विधिवाक्यों (—चोदना) में भूत, भविष्यत् सूक्ष्म, व्यवहित अर्थात् छिपे हुए और दूर पर विद्यमान सब तरह के अर्थों का ज्ञान कराने की शक्ति है —

"चोदना हि भूतं भविष्यन्तं सूक्ष्मं व्यवहितं
विप्रकृष्टमित्येवं जातीयकमर्थं शक्नोत्यवगमयितुम् ।।"

सीधा अभिप्राय यह कि वेद सर्वज्ञ हैं। बादरायण के ब्रह्म की सर्वज्ञ-वादिता में सन्देह का अवकाश नहीं, उनके ब्रह्म को सर्वज्ञ ही नहीं और भी बहुत कुछ कहा जाता है। "सर्वधर्मोपपत्तेश्च" (ब्रह्मसूत्र २—१—३७) ब्रह्म में सभी धर्मों का सामंजस्य है। शंकर ने खोल कर इस सूत्र के भाव को समझाया है —

"ब्रह्मणि......सर्वे.....धर्मा उपपद्यन्ते 'सर्वज्ञं सर्वशक्ति महामायं च ब्रह्म' इति ।"

ब्रह्म सर्वज्ञ है, सर्वशक्ति स्वरूप है, उसकी माया महान् है, उसमें सब धर्मों का समन्वय हो जाता है।

कणाद ने योगियों में सब कुछ जान लेने की शक्ति मानी है। उन्होंने कहा है कि आत्मा और मन के संयोग-विशेष से (समाधि से) आत्मा का ज्ञान होता है तथा अन्य द्रव्यों का भी। सरल शब्दों में कहें तो भाव यह है कि योगी समाधि द्वारा सब कुछ जान लेते हैं —

आत्मन्यात्ममनसोः संयोगविशेषादात्मप्रत्यक्षम् । तथा द्रव्यान्तरेषु । (वैशेषिक सूत्र ९।१।११, १२)

कणाद के मूल सूत्रों में ईश्वर का पता नहीं है। पर बाद में कणाद के अनुयायियों ने आत्मा के दो भेद किये —जीवात्मा और परमात्मा। परमात्मा या ईश्वर में उन्होंने सर्वज्ञता मानी तथा उसे वेद का कर्ता बताया। 'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्' (वैशेषिक सूत्र १—१—१) का अक्षरार्थ इतना ही जान पड़ता है कि आम्नाय या वेद इसलिए प्रमाण है कि उसमें तद्वचन (=धर्म का कथन) है। सूत्रों के क्रम को देखने से 'तत्' शब्द से धर्म का ही बोध होता है। 'अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः'।।१—१—१।।'यतोऽभ्युदयनिश्रेयस सिद्धिः स धर्मः'।।१—१—२।।'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्' ।।१—१—२।। इनमें पहले सूत्र में कहा है कि अब हम धर्म की व्याख्या करेंगे। दूसरे में कहा है अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति जिससे

होती है वह धर्म है। तीसरे में कहा है कि तद्वचन या धर्म का कथन चूंकि वेदों मे है इसलिए वे प्रमाण है। पर प्रशस्तवाद ने तद्वचन का भाव 'ईश्वरचोदना-भिव्यक्ते' बताया है। शंकर मिश्र ने 'उपस्कार' में स्पष्ट ही कहा है कि वेद की प्रमाणता इसलिए है कि वे ईश्वर की रचना हैं—

" तेनेश्वरेण प्रणयनाद् वेदस्य प्रामाण्यम् ।।"

अक्षपाद ने शब्द-प्रमाण की व्याख्या करते हुए कहा है कि शब्द-प्रमाण आप्त या पहुँचे हुए लोगों के उपदेश हैं जिनमें दृष्ट और अदृष्ट दोनों का वर्णन है। "आप्तोपदेशः शब्दः । स द्विविधो दृष्टादृष्टार्थत्वात्।।" (न्याय सूत्र अध्याय १ आह्निक १)। दृष्ट और अदृष्ट जो दोनों ही जानते हैं उनकी सर्वज्ञता में संदेह की गुंजायश नहीं हो सकती। वैशेषिक सूत्रों की तरह न्याय सूत्रों में भी स्पष्टतया न तो ईश्वर को वेद का कर्ता कहा गया है और न उसकी सर्वज्ञता कहीं बतायी गयी, पर यह बात बाद में अक्षपाद के अनुयायियों ने कर ली है। (विस्तार के लिए देखिए–'न्याय-मंजरी', शब्द-प्रमाण प्रकरण)।

योगदर्शनकार पतंजलि योगियों में सर्वज्ञता मानते हैं योगियों को संयम के बल से अन्तिम भूमि में जो ज्ञान प्राप्त होता है उसे तारक कहते हैं। वह सब विषयों तथा विषयों की सब-सब अवस्थाओं का ज्ञान है जिसके लिए किसी क्रम की जरूरत नहीं, योगी एक बार में ही करतलामलकवत् ज्ञान लेता है—

तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम्। (योगसूत्र ३–५४)

ईश्वर के बारे में कहा है कि उसमें सर्वज्ञता का बीज है और वह बीज उसमें निरतिशय या पराकाष्ठा को प्राप्त है। वह काल के बन्धन में नहीं है, वह पुराने ऋषियों का गुरु है —

तत्र निरतिशयं सार्वज्ञबीजम् [स] पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ।। (योगसूत्र १–२५, २६)

कपिल के मत में आप्तवचन द्वारा ही परोक्ष ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है। प्रत्यक्ष की जहां पहुँच नहीं है वहां अनुमान पहुँच सकता है पर जहां अनुमान की भी पहुँच नहीं वहां आप्त-वचन या ऋषिप्रणीत आगम के द्वारा ही ज्ञान होता है —

"तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात् सिद्धम् ।।" (सांख्यकारिका ६)

आप्त या पहुँचे हुए पुरुषों के वचनों पर जहां इतनी आस्था है वहां उनकी सर्वज्ञता के बारे में ननु-नच करने की अपेक्षा ही नहीं। कपिल के अपने वचन आज हमारे पास नहीं है, इसलिए सर्वज्ञतावाद पर उनका निजी विचार क्या था, हम कुछ नहीं कह सकते। ईश्वरकृष्ण की सांख्य-कारिकाओं से इतना पता चलता है कि वे आप्त पुरुषों की सर्वज्ञता पर भले ही विश्वास करते हों और आप्त वचन होने के कारण भले ही वेदों को प्रमाण मानते हों पर ईश्वरवाद के समर्थक न थे। पर बाद में कपिल पर ईश्वरवाद भी लादा गया तथा मीमांसकों का

अपौरुषेयवाद भी। ईश्वरवाद तो लड़ते-लड़ते बच गया, पर पता नहीं कि कपिल के किस दुरदृष्ट से किसी ने 'सांख्य प्रवचनसूत्र' गढ़ कर कपिल के मुंह से ही कहलवा दिया कि वेद अपौरुषेय है क्योंकि उनके रचयिता पुरुष का पता नहीं —

न पौरुषेयत्वं तत्कर्त्तुः पुरुषस्याभावत्। (सांख्यप्रवचनसूत्र २।४६)

जो भी हो, हमने ऊपर देखा है कि भारत की प्रायः सभी दार्शनिक शाखाओं में सर्वज्ञतावाद ओतप्रोत है। सर्वज्ञतावाद का जामा पहनकर ही वे सभी वाद जिनका हमने आरम्भ मे ही संकलन कर दिया है अपनी-अपनी बात सुनाते हैं। खासकर अदृष्ट जगत् को सिद्ध करने के लिए सबको सर्वज्ञतावाद की जरूरत थी। यह सर्वज्ञतावाद चाहे वेद के साथ जोड़ा जाय, या ब्रह्म के साथ, अथवा ईश्वर के साथ, किंवा वर्धमान महावीर, बुद्ध, कपिल, कणाद, अक्षपाद, पतंजलि अथवा दूसरे ऋषि-मुनियों के साथ, सबका अभिप्राय है: 'दृष्ट जगत् पर अदृष्ट के बोझ को लादना।' अदृष्ट के भार को जनता के माथे लाद उसे दृष्ट जगत् के प्रति उदासीन बनाने में भारतीय दर्शनों ने कोई कोर-कसर न उठा रखी। दार्शनिक स्वयं भी दृष्ट जगत् के विषय में सचेत न थे। दृष्ट जगत् विषयक उनका अज्ञान आज उतना ही रोचक है जितना कि कोई ऐन्द्रजालिक उपन्यास। इस धरती पर रहते हुए उन्होंने धरती का जो वर्णन किया है उस पर आज शायद ही कोई विश्वास करे। पर उन्होंने जो दूसरे अदृष्ट जगत् का बखान किया है उससे आज भी लोग मोहित हैं। इस पराधीन वृत्ति में भी जो अभूतपूर्व बात हुई है, वह है जनता में सुभाषितों के प्रति अनुराग की भावना का जागरण। यदि यह सहज भावना न होती तो नाना धर्मपन्थ के प्रवर्तकों की कथा कोई न सुनता। धार्मिकों के द्वारा जनता का शोषण इस भावना के कारण हुआ है। पर इस शोष्य-शोषण भाव के होते हुए भी दूसरा भाव भी रहा है। जनता को सीखने का बहुत-कुछ अवसर मिला है तथा इस प्रकार की शिक्षा देने वालों को अर्थ के अतिरिक्त अभूतपूर्व सम्मान मिला है।

## §§३. बौद्ध धर्म में तांत्रिक प्रवृत्तियों का प्रवेश और विकास

बौद्धधर्म में मनुष्य के व्यक्तिगत विकास और मुक्ति के लिए तीन शुद्धियों पर जोर दिया गया है। पहली है "शीलविशुद्धि" जिसके लिए बुद्ध ने कायिक और वाचिक सदाचारों का प्रतिपादन किया है। कायिक सदाचारों में काममिथ्याचार से विरत रहने पर बहुत जोर दिया है। बुद्ध के समय और उससे पहले भारत में यौन-सदाचार का भाव बहुत ही शिथिल था। अध्यात्मवादी ऋषि-मुनि भी यौन संबंध में कोई दोष न समझते थे। इस विषय के उदाहरण इतिहास और पुराणों में भरे पड़े हैं। जिनमें तपस्वी ऋषियों के यौन-संबंध का वर्णन है और उस यौन-संबंध के कारण उन्हें पतित नहीं कहा गया। यद्यपि आज के समाज में उस प्रकार यौन-संबंध करने वाले को समाज में मुंह दिखाना भी कठिन हो सकता है। छान्दोग्योपनिषद् में सामोपासना को मिथुन-भाव पर घटाते हुए कहा है: उपमन्त्रण १

हिंकार है, ज्ञापन २ प्रस्ताव है, स्त्री के साथ शयन उद्गीथ है, स्त्री के साथ अभिमुख शयन प्रस्ताव है, (द्वय-समापत्ति) में जो समय जाता है और उसका जो पार होना है वह निधन है। यह वामदेव्य (साम) मिथुन में ओतप्रोत है। मिथुन में ओत-प्रोत इस वामदेव्य (साम) को जो जानता है वह मिथुनीभाव से रहता है,.....पूर्णायुष्य को प्राप्त करता है, उज्ज्वल जीवन बिताता है, प्रजा, पशु और कीर्ति से महान् होता है। उसका व्रत है कि "न कांचन परिहरेत्।" शंकराचार्य के शब्दों में इसका अर्थ है "न कांचन कामयमानां परित्यजेत्"। वामदेव्य साम का उपासक ब्रह्मचर्य के विषय में कितना शिथिल है यह इतने से खूब स्पष्ट है। बुद्ध के समय यौन-संबंध की किस बेहूदगी से चर्चा होती थी इसका पता हमें विनयपिटक में षड्वर्गीय भिक्षु और भिक्षुणियों के वृत्तान्त से अच्छी तरह मिल जाता है। बुद्ध के पहले के समय में तो इस प्रकार का फूहड़पन अपनी सीमा को पार कर गया था। ऋग्वेद में इन्द्र का रोमशा ब्रह्मवादिनी के साथ संवाद हुआ है। उस संवाद को हिन्दी अनुवाद के द्वारा बढ़ाना बहुत ठीक बात नहीं है। (देखिए—बृहद्देवता अध्याय ४। ऋग्वेद १।१२६।७)

इतने से हमें इस बात का पता पूरे तौर पर चल जाता है कि बुद्ध के समय और उससे पहले यौन-संबंध की किस तरह खुल्लमखुल्ला चर्चा होती थी और वामदेव्य साम के उपासक जैसे धार्मिक लोग भी थे जिनके धर्म में यौन-संबंध का महत्वपूर्ण स्थान था। इसके साथ बुद्ध ने जो काममिथ्याचार से विरति और ब्रह्मचर्य पर इतना जोर दिया उसका कारण भी समझ मे आ जाता है। सचमुच यदि उस काल में यह पशुधर्म इतने जोरों से फैला न होता तो शायद बुद्ध को एतत्संबंधी सदाचार पर बहुत जोर न देना पड़ता। इसके अतिरिक्त उस समय मद्य और मांस का भी खूब रिवाज था। भोजन के लिए और यज्ञ के लिए पशुओं का वध होता था। धर्म में भी मदिरा का स्थान था। सौत्रामणि जैसे यज्ञों में खुल्लम-खुल्ला मदिरा का उपयोग होता था। बुद्ध ने अपने अनुयायियों को प्राणिवध एवं मद्यपान से विरत रहने का उपदेश दिया। साथ ही साथ स्वार्थवश युद्ध और लड़ाई झगड़े से जो खूनखराबी होती थी उससे भी विरत रहने पर बहुत जोर दिया।

दूसरी शुद्धि जिसका बुद्ध ने प्रतिपादन किया है वह है "चित्तविशुद्धि"। इसके लिए बुद्ध ने समाधि भावना का उपदेश दिया जो बुद्धयुग के लिए नयी बात न थी। बुद्ध से पहले श्रमण और ब्राह्मण समाधि भावना का अभ्यास आत्मसाक्षात्कार के लिए करते थे। आत्मसाक्षात्कार के अतिरिक्त विविध प्रकार की सिद्धियों की प्राप्ति के लिए भी समाधि भावना का अभ्यास किया जाता था। इन ध्यान में लीन श्रमणों के उपदेश को लोग सादर सुनते थे और उनकी पूजा करते थे। धनी राजाओं और श्रेष्ठियों की अपेक्षा इन अकिंचन तपस्वियों का बहुत मान था। धनी से लेकर गरीब तक, पंडितों से लेकर मूर्ख तक, सभी उन्हें पूजते थे। तैत्तिरीयारण्यक में वातरशन श्रमण ऋषियों का यों जिक्र है:—"वातरशन ऋषि श्रमण

---

२. उपमन्त्रण=संकेत करना, ज्ञापन=धनादि से संतुष्ट करना।

और ऊर्ध्वरेतस् थे। कुछ दूसरे ऋषि मतलब से उनके पास आये (अर्थमायन्)। वे वातरशन ऋषि कूष्मांड मंत्रों में छिप रहे। दूसरे ऋषियों ने श्रद्धा और तप से उन्हें जान लिया और उनसे कहा। क्यों छिप रहे हो? वे बोले: भगवन्, तुम्हें नमस्कार हो, इस जगह किस चीज से खातिर करूं। ऋषियों ने उनसे कहा, जिससे हम पाप से परे हो सकें वैसा उपदेश दें। तब उन्होंने इन सूक्तों को देखा (और उन्हें उपदेश दिया)। प्रपाठक ३, अनुवाक ७।" बुद्ध के समय तो अनेक श्रमण ब्राह्मण थे जिनका जनता पर बहुत प्रभाव था और समाधि संबंधी चर्चा सब जगह खूब होती थी। कुरुदेश में एतत्संबंधी चर्चा बहुत साधारण बात थी। सतिपट्ठानसुत्त की अट्ठकथा में जिक्र है कि वहां "दास और कर्मकर नौकर-चाकर भी स्मृत्युस्थान संबंधी कथा ही को कहते हैं। पनघट और सूत कातने के स्थान आदि में भी व्यर्थ की बात नहीं होती। यदि कोई स्त्री अम्म! तू किस स्मृत्युस्थान की भावना करती है? पूछने पर नहीं बोलती है तो उसको धिक्कारते हैं—धिक्कार है तेरी जिंदगी को, तू जीती भी मुर्दे के समान है। फिर उसे कोई एक स्मृत्युस्थान सिखलाते हैं।" बहुत स्पष्ट है कि बुद्धयुग में समाधि भावना की चर्चा आरण्यक श्रमणों और ब्राह्मणों में ही नहीं जनसाधारण के बीच में भी खूब हुआ करती थी।

तीसरी शुद्धि जिसका बुद्ध ने प्रतिपादन किया है वह है "दृष्टि विशुद्धि"। दृष्टिविशुद्धि के लिए बुद्ध ने विश्व को पांच स्कन्धों में विभक्त करके प्रतीत्यसमुत्पाद के द्वारा उन्हे अनित्य अर्थात् परिवर्तनशील बताया। इसी सिद्धांत के सहारे बौद्ध दार्शनिकों ने क्षणिकवाद अर्थात् "यत् सत् तत् क्षणिकम्" के सिद्धांत का प्रतिपादन किया। इसी सिद्धांत के सहारे नागार्जुन ने सापेक्षतावाद अर्थात् "किसी पदार्थ की स्वाभाविक सत्ता है ही नहीं" के सिद्धांत का प्रतिपादन किया। इसे ही शून्यवाद कहा जाता है। बाद में नागार्जुन के इस सिद्धांत से प्रभावित होकर असंग और वसुबन्धु ने विज्ञानवाद का विकास किया। बाह्य जगत् को मिथ्या या असत् मानकर विज्ञान स्कन्ध के परिणाम द्वारा विश्व के विकास को बताना विज्ञानवाद है। आगे चलकर हम देखेंगे कि तांत्रिक प्रवृत्तियों के समर्थन में इन दार्शनिकवादों का बहुत बड़ा हाथ है।

इन तीन प्रकार की शुद्धियों को स्वीकार करते हुए महायान ने कुछ अन्य आदर्शों का प्रचार किया जिनके बारे में हीनयानी लोग तटस्थ से थे। इन्होंने बोधिसत्त्वों की चर्या को अपना आदर्श माना और स्पष्ट रूप से घोषणा की :—

"मुच्यमानेषु सत्त्वेषु ये ते प्रामोद्यसागरा।:
तैरेव ननु पर्याप्तं मोक्षेणारसिकेन किम्।।" (बोधिचर्यावतार)

दूसरे प्राणियों को दुःख से छुड़ाने में जो आनन्द...मिलता है वही बहुत काफी है। अपने लिए मोक्ष प्राप्त करना नीरस है, उससे हमें लेना-देना ही क्या? एवं अपने लिए मोक्ष को ठुकरा कर प्राणिमात्र के मोक्ष के लिए यत्न करने का व्रत लेने की

लहर चली और इसने जनता के हृदयों को बहुत कोमल और दुःख-सहिष्णु बना दिया। भारत की आज भी साधारण मनोवृत्ति दुःख सह लेने की है, दूसरों को दुःख देने की नहीं।

बोधिसत्त्वों की चर्या के मर्मस्थान का शिक्षासमुच्चय में यों जिक्र है :—

"आत्मभावस्य भोगानां त्र्यध्ववृत्तेः शुभस्य च
उत्सर्गः सर्व सत्त्वेभ्यस्तद्रक्षाशुद्धिवर्धनम् ।"

सम्पूर्ण प्राणियों के हित के लिए अपने आत्मभाव (मनोवचन सहित शरीर) अपनी भोग सामग्री और अपने पुण्य का उत्सर्ग कर देना चाहिए और उत्सर्ग के लिए ही उनकी रक्षा, शुद्धि और वृद्धि करनी चाहिए।

आत्मभाव की शुद्धि तो उन तीन विशुद्धियों से हो सकती है जिनका कि ऊपर जिक्र हो चुका है। पर रक्षा और वृद्धि उनसे नहीं हो सकती। शरीर-रक्षा के लिए महायान में भौतिक साधन बहुत ही विरल हैं। केवल भोजन और वस्त्र से शरीर रक्षा का विधान है पर भोजन हीनयानियों का भोजन नहीं है जिनमें मत्स्य और मांस का सेवन बुरा नहीं समझा जाता। बोधिसत्त्वव्रतियों के भाग्य में भैषज्य (कन्द, मूल-फल अन्न आदि) ही भोजन का काम दे सकती है और भैषज्य का सेवन भी वितृष्ण होकर करना होगा नहीं तो पाप से बचा नहीं जा सकता। इसीलिए शिक्षा-समुच्चय में कहा है :—

"एषा रक्षात्मभावस्य भैषज्यवसनादिभिः ।
आत्मतृष्णोपभोगात्तु क्लिष्टापत्तिः प्रजायते ॥"

इतने मात्र भौतिक साधन से मनुष्य जी तो जरूर सकता है पर वितृष्ण होकर शाक-पात के भरोसे आत्मभाव की वृद्धि नहीं हो सकती फिर भी भौतिक साधनों के अभाव में आध्यात्मिक साधनों से तपस्वी लोग आत्मभाव की वृद्धि करते थे और उन आध्यात्मिक साधनों में जहां एक ओर शील और समाधि भावनाओं का स्थान था वहां दूसरी ओर अनेक प्रकार के मंत्र-तन्त्रों का भी। सो मन्त्र-तन्त्रों का बुद्ध के वचनों में समावेश हुआ और हुआ महायान सूत्रों का सहारा लेकर। बाद में सभी प्रकार की रक्षा और वृद्धि के निमित्त नाना प्रकार के मन्त्र-तन्त्र चल पड़े और उनके सहारे लोग अपने भौतिक सुख की रक्षा और वृद्धि का यत्न करने लगे।

मन्त्रों के साथ किसी न किसी देवता का संबंध जुड़ा रहता है। वे मन्त्र चाहे वैदिक हों और चाहे तान्त्रिक हों—देवता संबंध से अलग नहीं रह सकते। हां, इतना जरूर है कि वैदिक देवताओं का जहां बहुत कुछ भौतिक अस्तित्व है वहां तांत्रिक देवताओं के भौतिक अस्तित्व का हमें पता ही नहीं, हां, उनका औपासनिक महत्त्व है और उनकी सत्ता अध्यात्म में ढूंढ़ी जा सकती है। वैदिक ऋषि प्रातःकाल देवताओं का प्रत्यक्ष दर्शन करते हैं और मारे हर्ष के उछल पड़ते हैं और बोलते हैं : "चित्रं देवानामुदगादनीकं......सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च" (यजुर्वेद ७।४२)। आश्चर्य! देवताओं की सेना उग आई ......स्थावर और जंगम जगत् का आत्मा सूर्य उग

आया। बृहद्देवता के प्रथम अध्याय में वैदिक देवताओं के मर्मस्थल की ओर यों संकेत किया है :–

"भवद्भूतं भविष्यच्च जंगमं स्थावरं च यत्।
अस्यैके सूर्यमेवैकं प्रभवं प्रलयं विदुः॥
असतश्च सतश्चैव योनिरेष प्रजापतिः।
कृत्वैव हि त्रिधात्मानमेषु लोकेषु तिष्ठति।
देवान् यथायथं सर्वान् निवेश्य स्वेषु रश्मिषु॥
अग्निरस्मिन्नथेन्द्रस्तु मध्यतो वायुरेव च।
सूर्यो दिवीति विज्ञेयास्तिस्र एवेह देवताः॥"

अतीत, अनागत एवं वर्तमान जंगम और स्थावर जगत् एकमात्र सूर्य से ही उत्पन्न होता है और उसी में लीन हो जाता है। सत् और असत् सभी की उत्पत्ति इसी प्रजापति से होती है। सब देवताओं को अपनी रश्मियों में सन्निविष्ट कर वह इस त्रिलोकी में अपने को तीन रूप से विभक्त कर स्थित है। यहां तीन ही देवता हैं। (पृथिवी लोक) में अग्नि, मध्यम लोक में इन्द्र या वायु और द्यौः लोक में सूर्य।

तांत्रिक देवताओं का इतनी सरलता से निर्देश नहीं किया जा सकता और न उनका दर्शन ही इतना सुलभ है। निरन्तर ध्यान के द्वारा उनका साक्षात्कार होता है। सच कहें तो वे हमारी मानसिक भावनाओं के ही विकास हैं—मानसिक भावना की तीव्रता के कारण हम भले ही उन्हे मन से बाहर लाकर खड़ा कर दें और अपनी आंखों से देख लें पर मूलतः वे हमारे अध्यात्म में स्थित हैं। उनका भौतिक अस्तित्व तथा रूप और आकार का वर्णन सर्वथा सांकेतिक एवं मनःप्रसूत है।

मन्त्रों के साथ ये देवता लोग नाना नाम-रूप धर कर बौद्ध धर्म में आये और अपनी साधना या उपासना के उन तत्त्वों को भी लाये जो बौद्ध धर्म में पहले न थे। मद्य-मांस और मुद्रा (स्त्री) का साधना के उपकरण के रूप में प्रवेश हुआ तथा साधकों के लिए बुद्ध की "शील विशुद्धि" का महत्त्व ही न रह गया। भक्ष्या-भक्ष्य, पेयापेय, गम्यागम्य विचार, साधना के भीतर से चला गया।

पर यह सब हुआ क्यों? इनकी क्या जरूरत पड़ी? इसके उत्तर में इतना तो जरूर ही कहा जा सकता है कि बुद्ध से पहले यह सब प्रवृत्तियां मौजूद थीं और उन्हें बुरा नहीं समझा जाता था। बुद्ध ने शील एवं सदाचार का जो मार्ग दिखाया उसे जनसमाज ने अपनाया तो पर सभी पुरानी बातों को छोड़ कर उसे शुद्ध रूप में अपनाना शायद लोगों के लिए कठिन था सो बाद में धीरे-धीरे दूसरी प्रवृत्तियों ने बुद्ध के धर्म-विनय में घुसना शुरू किया। भिक्षुओं के लिए जिस कठोर सदाचार का प्रतिपादन बुद्ध ने किया था उसे सहज जीवन नहीं कहा जा सकता और जब चारों ओर के वातावरण में उस कठोर तप की विघातक सामग्री मौजूद हो तब तो उसका टिकना संभव हो ही नहीं सकता और हुआ भी वही। महायान के सहारे तांत्रिक प्रवृत्तियों ने प्रवेश कर बौद्धधर्म को वज्रयान एवं सहजयान में बदला।

भिक्षु लोग भीतर से वज्रयानी, ऊपर से महायानी और लोगों में बात करने के लिए हीनयानी बने रहते थे। उनकी स्थिति बाद के हिन्दू तांत्रिकों जैसी थी जो—"अन्तःशाक्ताः बहिः शैवाः सभामध्ये च वैष्णवाः" थे।

प्राग्बुद्धकालीन इन तांत्रिक प्रवृत्तियों को बुद्ध धर्म में अपना स्थान बनाने में कम समय नहीं लगा और न इन सबने एक साथ ही उसमें प्रवेश किया। प्रत्युत ज्यों-ज्यों समय बीतता गया बुद्ध की शिक्षामात्र से सन्तुष्ट न होने वाले उनके अनुयायी अपने चारों ओर विद्यमान दूसरी-दूसरी साधना के तत्वों को उसमें बुद्ध के नाम से शामिल करते रहे । परित्राण के लिए आटानाटिय रक्षा जैसे सूत्र ईसा से पूर्व ही बौद्धधर्म में आ चुके थे । अनेकों महायान सूक्तों का चीनी भाषा में अनुवाद ईसा की दूसरी शती में ही हो गया था सो उससे पहले कितने ही महायान ग्रंथ प्रचारित हो चुके थे और संगायन या लेखन द्वारा संख्या के नियत न होने से बाद में भी उनका निर्माण होता रहा। और उनमें मन्त्रों एवं धारणियों के समावेश के साथ-साथ छिपे-छिपे मुद्रा और मंडल बनाने के प्रकार, बहुत सी साधनाएँ जिनमें मैथुन का भी स्थान था शामिल होती गयीं । नागार्जुन (१५० ई०) से लेकर हर्ष (६०६—६४७ ई०) तक महायान खूब विकसित हो चुका था और महायान सूक्तों के सहारे तंत्र का उसमें प्रवेश हो चुका था। हर्ष-काल में श्रीपर्वत (आन्ध्रदेश) तांत्रिकों का अड्डा समझा जाता था और अनेकों साधक तांत्रिक साधनाओं का अभ्यास गुप्त रूप से करते थे। इन साधनाओं के प्रतिपादक ग्रन्थ भी इस समय तक जरूर बन चुके थे। हर्ष के बाद ८वीं से १२वीं शती के बीच में सिद्धयुग में यह सब गुह्य साधनाएँ खुल्लमखुल्ला होने लगी थीं। ८वीं शती के आरम्भ में ही होने वाले आचार्य इन्द्रभूति ने अपने ग्रन्थ 'ज्ञानसिद्धि' मे अनेक तांत्रिक रहस्यपूर्ण शब्दों की व्याख्या की है। वे शब्द और वाक्य गुह्य-समाज तंत्र से लिए गये हैं । सो बहुत साफ है कि ८ वीं शती से पूर्व ही गुह्य-समाज का साधना क्षेत्र मे खूब प्रचार हो चुका था । यहां गुह्यसमाज की साधनाओं के उद्देश्यों का संक्षेप में वर्णन करना बहुत ठीक होगा।

साधना का लक्ष्य काय, वाक् और चित के व्यापारों में एकरूपता ले आना है। जो कुछ चित्त में है वही काय और वाणी का व्यापार हो एवं जो कुछ काय और वाणी का व्यापार हो ठीक वही चित्त का भाव हो । जरा खोलकर कहें तो यों कह सकते हैं—शरीर अर्थात् शरीरस्थ इन्द्रिय और वाणी के सब विक्षेप शांत हों तथा चित्त में भी किसी प्रकार का विक्षेप न हो ऐसी शांतावस्था को पाना ही साधना का उद्देश्य है। इसीलिए कहा है :

"उत्पादयन्त्वभवन्तः चित्तं कायाकारेण कायं चित्ताकारेण चित्तं वाक्प्रत्याहारेणेति ।।" पृष्ठ ११ ।।

इसी शांतावस्था को प्राप्त साधक को स्थितप्रज्ञ कहा जाता है। इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए अनेकों कठोर साधनाओं—कायपीड़न का उपयोग भी किया जाता था पर बुद्ध के धर्म में जहां दूसरे को पीड़ा पहुँचाना मना है वहां अपने को पीड़ा

देना भी अनार्य-कर्म कहा गया है। सौगत तन्त्र ने भी आत्मपीड़ा के मार्ग को ठीक नहीं समझा। स्पष्ट ही कहा है :—

सर्वकामोपभोगैश्च सेव्यमानैर्यथेच्छतः ।
अनेन खलु योगेन लघु बुद्धत्वमाप्नुयात् ॥
दुष्करैर्नियमैस्तीव्रैः सेव्यमानो न सिद्ध्यति ।
सर्वकामोपभोगैस्तु सेवयंश्चाशु सिद्ध्यति ॥ (गुह्य समाज पृष्ठ २७)

कामोपभोगों से विरत जीवन बिताने वाले साधकों में मानसिक क्षोभ उत्पन्न होते होंगे—कामभोगों की ओर उनकी इच्छा दौड़ती होगी और विनय के अनुसार उसे वे दबाते होंगे, पर क्या दमनमात्र से चित्तविक्षोभ सर्वथा चला जाता होगा? दबायी हुई वृत्तियां जागृतावस्था में न सही, स्वप्नावस्था में तो अवश्य ही चित्त को मथ डालती होंगी। इन प्रमथनशील वृत्तियों को दमन करने से दबते न देख अवश्य ही साधकों ने उन्हें समूल नष्ट करने के लिए जागरूक एवं दान्तावस्था में थोड़ा अवसर दिया होगा कि वे भोग का भी रस ले लें, ताकि उनका सर्वथा शमन हो जाये और वासनारूप से वे हृदय के भीतर न रह सकें। अनंगवज्र ने कहा है कि चित्त क्षुब्ध होने से कभी भी सिद्धि नहीं हो सकती, अतः इस तरह बरतना चाहिए जिसमें मानसिक क्षोभ उत्पन्न ही न हों—

"तथा तथा प्रवर्तेत यथा न क्षुभ्यते मनः ।
संक्षुब्धे चित्तरत्ने तु सिद्धिर्नैव कदा चन ॥" (प्रज्ञोपायविनिश्चय ५।४०)

जब तक चित्त में कामभोगोपलिप्सा है, तब तक चित्त में क्षोभ का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। भोगलिप्सा मन में उत्पन्न न हो इसके लिए एक मार्ग यह था कि भोगों से दूर रहा जाय। पर भोगों से दूर रहने पर भी अवसर पाते ही सोते-जागते मन में छिपी भोग की वासना बदला लिये बिना न मानती थी, सो बहुत पहले लोगों ने इसे समझ लिया था कि भोग से जान तभी बच सकती है जब उनको स्वीकार भी कर लिया जाय और उनके फन्दे में भी न फंसा जाये। गीता में कहा है, समुद्र में नदियों के पानी की तरह बिना चाहे जिसके पास काम-भोग पहुँचते हैं, उसे शांति मिलती है, काम-भोगों को चाहने वाले को नहीं—

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठसमुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शांतिमाप्नोति न कामकामी ॥

इस तरह योगी जैसे शरीर धारण के लिए अन्न ग्रहण करता है, पर जिह्वालंपट पेटू व्यक्ति की तरह उसके रस में नहीं फंसता, उसी तरह मन की पशुवृत्तियों को शमन करने के लिए योगियों ने कामोपभोग को स्वीकार किया, पर लम्पट पुरुष की भांति भोग स्वीकार के पक्ष में वे नहीं थे। जो भी हो, आरम्भ में भले ही भोगों का स्वीकार बहुत साफ दिल से किया गया हो, पर बाद में भोगों के प्रलोभन से बहुत लोग इसमें घुसे होंगे और उन्हीं के कारण इस साधना के मार्ग में ऊपरी ढोंग बहुत बढ़ गये होंगे तथा साधना के बहाने लोग विलासी जीवन भी बिताने लगे होंगे।

साधना के इस मार्ग में अनेक प्रकार की योग संबंधी कसरतें भी करनी पड़ती थीं और उनमें जरा भी गड़बड़ होने से साधक को विविध व्याधियों का सामना भी करना पड़ता था। इसलिए साधक के लिए यह बहुत जरूरी था कि वह किसी गुरु की शरण ले जो उसे साधना के बीच मदद पहुँचाये। फलतः इस साधना में गुरु का बड़ा आदर है। यह पूछने पर कि आपका गुरु कौन है? बुद्ध ने उत्तर दिया था कि मैंने सबका पराभव किया है, मैं सर्वविद् हूँ, सब धर्मों से मैं निर्लिप्त हूँ, मैंने सबका त्याग किया है, मेरी तृष्णा का क्षय हो चुका है, मैं मुक्त हूँ, मैंने स्वयं जाना है-- मैं किसे अपना गुरु बताऊं --

"सब्बाभिभू सब्बविदूहमस्मि
सब्बेसु धम्मेसु अनूपलित्तो।
सब्बंजहो तण्हखये विमुत्तो
सयं अभिञ्ञाय कमुद्दिसेय्यं॥"

पर गुह्य साधना में बिना गुरु के न कोई साधक हो सकता है और न सिद्धि ही। जो सिद्ध हो चुका है उसके भी गुरु है और जो साधक है वह तो सर्वथा गुरु के आश्रय में है ही। इसलिए गुह्य साधना के अनुसार बुद्ध जो सचमुच सिद्ध हैं और बोधिसत्त्व जो साधकावस्था में हैं, गुरु की सदा पूजा करते हैं। गुह्य साधना के इस गुरु-वज्राचार्य के दार्शनिक रूप को आगे चलकर देखेंगे। इस वज्राचार्य के प्रति बुद्ध और बोधिसत्त्व जैसे बरतते थे उसका जिक्र यों है --

"मैत्रेय बोधिसत्त्व ने सब तथागतों को नमस्कार करके पूछा कि तथागत और बोधिसत्त्व वज्राचार्य के प्रति कैसे देखें (व्यवहार करें)? तथागतों ने कहा....संक्षेप में कहते हैं; लोक धातुओं में जितने बुद्ध और बोधिसत्त्व हैं, वे तीनों समय आकर उस आचार्य की पूजा कर के अपने-अपने लोक को लौट जाते हैं और कहते हैं, आप सब तथागतों के पिता और माता हैं।" (पृष्ठ १३७--१३८)। अतएव बहुत स्पष्ट है कि बुद्ध और बोधिसत्त्वों के बीच इस साधना में आचार्य का स्थान प्रमुख है।

तथागतों का इस साधना के भीतर शक्ति या भार्या के सहित वर्णन है। तथागत ही नहीं, तथागत की भार्याएँ भी वज्राचार्य की पूजा करती हैं। तथागत और उनकी भार्याओं के दार्शनिक रूप को हम आगे चल कर देखेंगे। वज्राचार्य के बहुत कुछ मूर्त रूप वज्रपाणि तथागत हैं। वज्र के संकेत के रहस्य को हम अनुपद ही देखेंगे। वज्रपाणि तथागत से तथागत की शक्तियां अपनी कामना के लिए प्रार्थना करती हैं और वे समाधिस्थ होकर उनकी कामना करते हैं। यहां तथागत की शक्तियों की प्रार्थना को उद्धृत करना उपयुक्त होगा--

त्वं वज्रचित्त भुवनेश्वर सत्त्वधातो
त्रायाहि मां रतिमनोज्ञ महार्थकामैः।
कामाहि मां जनक सत्त्वमहाग्र बन्धो
यदीच्छसे जीवितं मञ्जुनाथ॥......... इत्यादि (पृष्ठ १४५)।

इस प्रार्थना को सुन कर "वज्रपाणिस्तथागतः ......सर्व तथागतदयितां समयचक्रेण

कामयन् तूष्णीमभूत्" : इस कामना के प्रभाव का वर्णन करते हुए कहा है कि उस समय जितने प्राणी थे वे त्रिवज्ज्ञानी सम्यक् सम्बुद्ध हो गये : "सत्वाः सर्वे ते तथागताः अर्हन्तः सम्यक्सम्बुद्धास्त्रिवज्ज्ञानिनो ऽभूवन् ।"

इस गुह्य-साधना में काय-वाक्-चित्त की ही साधना है; तथागत और तथागत की शक्तियों का ही प्रमुख स्थान है। इसलिए यहां उनके स्वरूप पर विचार कर लेना ठीक होगा। बौद्ध-दर्शन में विश्व के सम्पूर्ण पदार्थों का विभाजन पंच-स्कंधों में किया गया है। साधना के भीतर इन्हीं पांच स्कन्धों को पंच तथा गत माना गया है। "पंचस्कन्धाः समासेन पंच बुद्धाः प्रकीर्तिताः" (पृष्ठ १३७) । रूपस्कन्ध को वैरोचन, वेदनास्कन्ध को रत्नसंभव, संज्ञास्कन्ध को अमिताभ, संस्कारस्कन्ध को अमोघसिद्धि और विज्ञानस्कन्ध को अक्षोभ्य कहते हैं। इस गुह्य-साधना का दर्शन शून्यवाद है और शून्यवाद के हिसाब से पांचों स्कन्धों की सत्ता निरपेक्ष है ही नहीं। निरपेक्ष-सत्ता के अभाव को ही माध्यमिक शून्यता कहते हैं। यह शून्यता ही सब धर्मों का स्वभाव है—

"गुड़े मधुरताचाग्नेरुष्णत्वं प्रकृतिर्यथा ।
शून्यता सर्वधर्माणां तथा प्रकृतिरिष्यते ॥" (अद्वयवज्र संग्रह पृष्ठ ४२) ।

इसी शून्यता के मूर्तरूप वज्रसत्त्व हैं; वज्रधर, वज्रपाणि तथागत भी इस शून्यता के ही मूर्तरूप हैं। साधना के आचार्य भी इसी शून्यता के ही प्रतीक है। वज्रशब्द शून्यता का ही संकेत है।

इन पांच तथागतों के पांच 'कुल' हैं। रूपस्कन्ध का मोहकुल है, वेदना-स्कन्ध का ईर्ष्याकुल है, संज्ञास्कन्ध का रागकुल है, संस्कारस्कन्धका वज्र या चिन्ता-मणिकुल है, और विज्ञानस्कन्ध का द्वेष या समयकुल है। इसी तरह पांच शक्तियां भी हैं—मोहरति, ईर्ष्यारति, रागरति वज्ररति और द्वेषरति। इन कुलों और शक्तियों का नामकरण बहुत कुछ स्कन्धों के स्वभाव के अनुसार हुआ है। रूपस्कन्ध जिसमें भूत (पृथिवी आदि) शामिल हैं, बन्धन या आवरण के स्वभाव वाला है। मोह भी बांधता है—ज्ञान को आवृत करता है, सो रूपस्कन्ध के साथ मोहकुल को जोड़ा है। यही बात दूसरे कुलों के साथ है। शक्तियों का नामकरण भी पांच स्कन्धों के स्वभाव के अनुसार ही किया गया है। पर शक्तियां केवल पांच स्कन्धों के स्वभावों की ही प्रतीक नहीं हैं, वे पृथिवी, वायु, तेज, और जल धातुओं की भी प्रतीक हैं। मोहरति पृथिवी की प्रतीक है। इसका दूसरा नाम लोचना है। ईर्ष्यारति वायु की प्रतीक है। इसका दूसरा नाम तारा है। रागरति तेज की प्रतीक है। इसका दूसरा नाम पाण्डरवासिनी है। द्वेषरति जल की प्रतीक है; इसका दूसरा नाम मामकी है। इन तथागतों और शक्तियों का विविध चिन्हों और रंगरूप के साथ वर्णन है। उन सबको यहां नहीं छेड़ा जा सकता पर इन वर्णनों का महत्त्व बहुत है, भारतीय मूर्तिकला और चित्रकला को इन सब चिह्नों और संकेतों के जाने बिना समझा नहीं जा सकता। यहां इनका एक कोष्ठक दे देना ठीक होगा :

| पंच स्कन्ध | पंच तथागत या ध्यानी बुद्ध | रंग | चिन्ह | वर्ण | पंच कुल | पंचतथागत भार्या या शक्तियां | शक्तियों के दूसरे नाम | प्रतीक भूत शक्तियों के तत्त्व | रंग | चिह्न |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| रूप | वैरोचन | शुक्ल | शुक्लचक्र | कवर्ग | मोह | मोहरति | लोचना | पृथिवी | शुक्ल | चक्र |
| वेदना | रत्नसंभव | पीत | रत्न | टवर्ग | ईर्ष्या | ईर्ष्यारति | तारा | वायु | श्याम | नीलोत्पल |
| संज्ञा | अमिताभ | रक्त | पद्म | तवर्ग | राग | रागरति | पाण्डरवासिनी | तेज | रक्त | पद्म |
| संस्कार | अमोघसिद्धि | श्याम | वज्र | पवर्ग | वज्र (चिंतामणि) | वज्ररति | | | | |
| विज्ञान | अक्षोभ्य | कृष्ण | कृष्णवज्र | चवर्ग | द्वेष (समय) | द्वेषरति | मामकी | जल | कृष्ण | कृष्णवज्र |
| शून्यता | वज्रसत्त्व | शुक्ल | वज्रघंटा | अन्तःस्थ | | | प्रज्ञापारमिता | | | |

इन पांच स्कन्धों से ही सौगत सिद्धांत के अनुसार हमारे अध्यात्म का विकास हुआ है। अध्यात्म से अभिप्राय है, काय, वाक् और चित्त। एवं काय, वाक् और चित्त की साधना में इन स्कन्धों का प्रमुख स्थान होना स्वाभाविक है। स्कन्ध जैसा कि ऊपर जिक्र किया जा चुका है, माध्यमिकों के अनुसार निःस्वभाव हैं, उनकी स्वाभाविक सत्ता नहीं है, अतः वे शून्य हैं। शून्यता का उपयोग जितना दार्शनिक क्षेत्र में है, उससे कहीं अधिक उपयोग साधना के क्षेत्र में है। साधक जिस शान्तावस्था को प्राप्त करना चाहता है उसके लिए यह बहुत जरूरी है कि वह तृष्णा से मुक्त हो और शून्यता तृष्णा से पीछा छुड़ाने में मदद करती है—जो चीज टिकाऊ है ही नहीं उसके साथ हमारी तृष्णा टिकाऊ हो ही नहीं सकती। पर शून्यता से यह समझना कि वह कोरी अभावात्मक दृष्टि है, कदापि ठीक न होगा। आचार्य नागार्जुन ने कहा है कि जो लोग नित्यवादी हैं उनको तो शून्यता के द्वारा उस वाद से निकाला जा सकता है, पर जो शून्यतावादी हैं उनका इलाज ही नहीं हो सकता—

"शून्यता सर्वदृष्टीनां प्रोक्ता निःसरणं जिनैः।
येषां तु शून्यता दृष्टिस्तान् असध्यान् बभाषिरे॥" (माध्यमिक कारिका)

इस शून्यवादी दर्शन ने तत्त्ववाद के क्षेत्र में जहां नित्य या स्थिर समझे जाने वाले तत्त्वों को असत् सिद्ध कर दिया, वहां तन्त्र में प्रविष्ट होकर आचार की भीत को भी गिराना शुरू कर दिया। आचार के जो सभी नियम समाज में थे, उन्हें मनगढ़न्त करार देकर निकम्मा सिद्ध कर दिया गया। आचार के नियमों को मन-गढ़न्त सिद्ध करना तो सचमुच ही ठीक था, पर निकम्मा सिद्ध करना अच्छी बात न थी। पर जब तक उन्हें निकम्मा न बताया जाता तब तक गुह्य-साधनों में प्रवृत्त होना किसी के लिए सम्भव भी न था। लोकाचार के नियमों को आध्यात्मिक उन्नति के लिए निकम्मा समझने के ख्याल ने ही चौरासी सिद्धों के युग में साधकों को भक्ष्याभक्ष्य, पेयापेय और गम्यागम्य के झंझट से छुड़ा दिया।

बौद्धों के पंचस्कन्ध आदि पदार्थ जिस तरह ध्यानी बुद्ध आदि के रूप में बदल गये, वैसे ही अन्य देवतागणों को भी जो अबौद्ध धर्मों में जगह बनाये हुए थे, बौद्ध धर्म में घुस आने पर बहुत-कुछ बौद्ध रूप ग्रहण करना पड़ा और तदनुसार अपने रूप में थोड़ा हेर-फेर भी करना पड़ा। यहां हिन्दुओं के प्रमुख देवता ब्रह्मा विष्णु और महेश का जिक्र करना ठीक रहेगा। ऊपर हम त्रिवज्र का जिक्र कर चुके हैं। वज्र का धर्म शून्यता या निःस्वभावता है। काय की निःस्वभावता का नाम ब्रह्मा, वाणी की निःस्वभावता का नाम महेश्वर और चित्त की निःस्वभावता का नाम विष्णु है—

"कायवज्रो भवेत् ब्रह्मा वाग्वज्रस्तु महेश्वरः।
चित्तवज्रधरो राजा सैव विष्णुर्महर्द्धिकः॥" (पृष्ठ १२९)

इन देवगणों ने बाहर से बौद्ध धर्म में प्रवेश कर भले ही ऊपर से बौद्ध रूप ग्रहण कर लिया हो, पर उनकी जो साधनाएं बौद्ध धर्म में प्रविष्ट हुईं, उनके मूलतत्त्व

ज्यों के त्यों बने रह गये । शिवोपासना जो इन्द्रिय द्वय के प्रतीक रूप में होती है और जिस उपासना में आज अश्लीलता की गन्ध भी नहीं मालूम होती, उसकी साधना के रहस्य का वर्णन करते हुए कहा गया है —

त्रैधातुकस्थितां सर्वांगनां सुरतविह्वलाम् ।
कामयेत् विविधैर्भावैः समयः परमाद्भुतः ।। (पृष्ठ १२९)

बहुत स्पष्ट रूप से इसमें मैथुन की उपादेयता का प्रतिपादन है । वाग्वज्र के रूप में महेश्वर बौद्ध धर्म में आते और उनकी साधना का उपकरण पंचम मकार न आता, यह संभव ही कैसे था ?

इस तरह बौद्ध धर्म मे मन्त्र, मद्य, मांस, और मैथुन का साधना या योगाभ्यास में सहायता देने के लिए प्रवेश हुआ । मुख्यतया सिद्धियों की लिप्सा ने इस प्रकार के तत्त्वों को बौद्ध धर्म में घुस आने दिया । जनसाधारण का दिव्य शक्तियों पर विश्वास था ही, और इस प्रकार साधनाओं से दिव्य शक्ति मिलती है। यह धर्माचार्यों ने उन्हें समझा ही दिया था, फलतः ये प्रवृत्तियां जो पहले छिपे-छिपे काम करती थीं, बाद में खुल्लमखुल्ला काम करने लगीं। यद्यपि बुद्ध ने अपने धर्म में सिद्धि के चमत्कारों को विशेष स्थान नहीं दिया है और न उन चमत्कारों के कारण मुक्त होने की बात ही कहीं है, फिर भी त्रिपिटक में चमत्कारों और सिद्धियों का वर्णन खूब है और उनके कारण धर्माचार्यों के सत्कार और पूजा होने की बात का भी उल्लेख है । अतः सिद्धि के लिए लोगों का यत्नशील होना उस काल में स्वाभाविक था और चाहे जिस उपाय से हो, सिद्धि प्राप्त करना धर्माचार्यों का ध्येय था । सौगततंत्र में दो प्रकार की सिद्धियों का प्रतिपादन है । अन्तर्धान इत्यादि सिद्धियां साधारण मानी जाती है और बुद्धत्व की प्राप्ति मुख्य सिद्धि। बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए महायान ने जिस बोधिचर्या का उपदेश दिया वह बड़ी दुष्कर थी। अनेक जन्मों तक प्राणिहित के लिए अपना सर्वस्व उत्सर्ग करने के बाद बुद्धत्व की प्राप्ति होने की अपेक्षा यदि थोड़े यत्न से बुद्धत्व प्राप्ति हो सके तो उस ओर लोगों का झुकना स्वाभाविक था। तन्त्र ने यह रास्ता खोल दिया और घोषणा की कि साधारण सिद्धियां ही नहीं, बुद्धत्व प्राप्ति भी इसी जन्म मे हो सकती है : "गंगा नदी की बालुका के समान अनन्त कल्पों तक परिश्रम करते हुए बोधिसत्त्व जिस बोधि को नहीं पाते, उसे गुह्य-साधना में रत बोधिसत्त्व इसी जन्म में पाकर बुद्ध हो जाता है।" (पृष्ठ १४४) सामान्य सिद्धियों और बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए नाना प्रकार के उपायों से मन्त्रशास्त्र भरा पड़ा है। उन उपायों और साधनाओं के वर्णन के लिए एक विशाल वाङ्मय का सृजन हुआ है। यद्यपि वह आज संस्कृत में उपलब्ध नहीं, पर अपने तिब्बती अनुवादों में सुरक्षित है । तिब्बती साधकों और तिब्बती में अनूदित मन्त्रशास्त्र के अनुवादों से भारतीय योग की हठयोग, त्राटक, स्वरोदय, भूतावेश आदि की प्रक्रियाओं और उनके इतिहास को जाना जा सकता है।

बौद्ध धर्म में बाहर से आयी हुई इन साधनाओं में उन्हें ही सिद्धि प्राप्त हो सकती थी जो सब प्रकार के आचार-विचार से विमुक्त हों। चंडाल, डोम आदि

जो समाज के निचले स्तर में गिने जाते थे, उन लोगों का इस साधना में केवल स्थान ही नहीं, प्रत्युत प्रशस्त स्थान समझा जाता था। सिद्धों में अनेक हीन वर्णों में से ही थे। शौचाशौच संबंधी सभी नियमों को छोड़े बिना किसी की इन साधनाओं में गुंजाइश न थी। इससे हम और कोई निष्कर्ष न भी निकालें तो इतना जरूर कह सकते हैं कि बौद्ध धर्म की इस तांत्रिक लहर ने समाज के सभी स्तरों को बहुत प्रभावित किया था। छोटे से बड़े सभी इन सिद्धों का आदर करते थे। हीन समझी जाने वाली जातियों में से अनेक सिद्धों ने उस समय बड़ी प्रतिष्ठा पायी होगी। उनके उपदेशों से जनता के निचले स्तर में बहुत चेतना आ गयी होगी और वे इस बात का अनुभव करने लगे होंगे कि केवल श्रोत्रिय लोगों को ही नहीं, उन्हें भी धर्म में अधिकार है।

## §§४. ब्राह्मण प्रमुख धर्म में बौद्ध धर्म की प्रतिक्रिया के चिन्ह

एक ओर बुद्धप्रमुख श्रमणों की परम्परा में जहां एक व्यापक सार्वजनीन धर्म-दर्शन की विचारधारा का विकास हो रहा था, वहां दूसरी ओर ब्राह्मण परंपरा में अनेक प्रतिक्रिया के चिन्ह भी दिखायी देते थे। यह प्रतिक्रिया तुलसीदास के समय तक पराकाष्ठा को पहुँच चुकी थी पर पूर्व युग में इससे लगी निष्ठुरता इस युग में कम हो गयी थी। वस्तुतः श्रमण-ब्राह्मण अथवा संत-ब्राह्मण परम्परा में कुछ मौलिक भेद हैं। दोनों एक दूसरे की शत्रु भी नहीं हैं पर दोनों में पूर्ण मैत्री भी नहीं है।

इन श्रमण-ब्राह्मण विचारधाराओं की परम्परा यद्यपि बुद्ध-युग से भी पूर्व में खोजी जा सकती है; पर बुद्ध-युग में वे धाराएं इतनी प्रत्यक्ष हैं कि हम उनकी ओर से आंखें नहीं मूंदे रह सकते। ब्राह्मण और श्रमण विचारधाराओं में परस्पर क्या भेद है? ब्राह्मण विचारधारा को यदि दूसरे शब्दों में कहें तो वह प्रधानतया प्रवृत्ति-मार्ग की विचारधारा है। इस प्रवृत्तिमार्ग का स्वरूप श्रुति-स्मृति-पुराण प्रतिपादित धर्म है, जिसके नेता ब्राह्मण ही हैं और हो सकते हैं। ब्राह्मण होना अपने बस की बात नहीं है। सुनते हैं विश्वामित्र अपने बलबूते पर ब्राह्मण हो गये थे। किन्तु यह भी सुना है कि कोई-कोई रगड़ करते-करते खतम भी हो गये, पर ब्राह्मणत्व नसीब नहीं हुआ। महाभारत के अनुशासन पर्व में, २०–२१ वें अध्यायों में एक चांडाल की कथा इस बात पर पूरा प्रकाश डालती है। किसी ब्राह्मण के पुत्र का नाम मतंग था। पिता ने उसे यज्ञकार्य के लिए सामग्री लाने को बाहर भेजा। वह गधजुते रथ पर बैठकर जा रहा था। उसने तेज चलने के लिए गधे के नथुने पर प्रहार किया जिससे घाव हो गया। उसे देख रास्ते में चरती हुई उस गधे की माता ने कहा—'पुत्र! शोक न करो, चांडाल तेरे रथ पर बैठा हुआ है।' गधे की माता की बात सुन मतंग ने उससे पूछा तो उसने कहा कि तू ब्राह्मण का पुत्र नहीं है। शूद्र से ब्राह्मणी में तेरी उत्पत्ति हुई है। यह सुन कर मतंग लौट आया और उसने पिता से सब बात कही। फिर ब्राह्मणत्व प्राप्त करने के लिए वन में तप करने चला गया। उसके तप से प्रसन्न हो, इन्द्र ने

उसे दर्शन दे, वर मांगने को कहा। उसने ब्राह्मणत्व मांगा। इन्द्र ने कहा कि ब्राह्मणत्व इस शरीर से नहीं मिल सकता। उसने पहले से भी उग्र तप करना शुरू किया। इन्द्र फिर आये और यह कहकर चले गये कि इस शरीर से ब्राह्मणत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती। उसने अब और भी उग्र तव करना शुरू किया और "दुर्वह योग का अभ्यास करते कृश, (मांस के अभाव में) धमनि संतत (=नसों से व्याप्त) हड्डी-चमड़े मात्र शरीरवाला वह धर्मात्मा (भूमि पर) गिरने लगा।१ पर इन्द्र ने उसे जमीन पर गिरने नहीं दिया और बीच ही में उठा लिया तथा फिर वही बात कही कि इस शरीर से ब्राह्मणत्व प्राप्ति नहीं होगी। इस पर मतंग ने कहा—"मुझ दुःख पीड़ित को क्यों और दुःख दे रहे हो, मुझ मरे को क्यों मार रहे हो। मुझे तो तुम्हारा सोच है कि ब्राह्मणता पाकर भी तुम ब्राह्मण नहीं होना चाह रहे हो। हे इन्द्र! अपने आपमें रमा, राग द्वेषादि द्वन्द्वों से रहित परिग्रहहीन, मैं अहिंसा और इन्द्रिय-संयम करके भी कैसे ब्राह्मणता के योग्य नहीं हूँ?"२ इन्द्र ने इतने पर भी ब्राह्मणता का वरदान नहीं दिया। हां, यह वर दिया कि तुम्हारा यश होगा और स्त्रियां तुम्हें पूजेगीं (स्त्रीणां पूज्यो भविष्यसि)। उपसंहार में इतना और कह दिया है कि मरने पर उसे ब्रह्मलोक मिला (संप्राप्तं स्थानमुत्तमं)। इस प्रकार ब्राह्मणों के प्रवृत्ति मार्ग में नेतृत्व करने वाला ब्राह्मण जन्ममूलक ब्राह्मण है। वह इस जन्म मे शील-गुण द्वारा, वैराग्य-संयम द्वारा, अहिंसा-मैत्री द्वारा, क्षमा-सहिष्णुता द्वारा नहीं बन सकता। ऐसा जन्मसिद्ध ब्राह्मण ही मानस कवि के अनुसार पूज्य है, चाहे उसमे शीलगुण हों या न हों; शीलगुण होने पर भी दूसरा पूजा के योग्य नहीं है—

पूजिय विप्र शील गुन हीना। शूद्र न गुनगन ज्ञान प्रवीना॥

श्रमणों या संतों की विचारधारा वस्तुतः प्रधानतया निवृत्तिमार्ग की विचार-धारा है। उसका नेतृत्व वे सभी लोग कर सकते है, जो शीलगुण के धनी हों, विद्याचरण सम्पन्न हों, उनका जन्म भले ही किसी कुल मे क्यों न हो। ऐसे व्यक्ति के लिए बुद्ध ने कहा है कि वह देवताओं और मनुष्यों में श्रेष्ठ होता है। हिन्दू स्मृतियों में हीनवर्ण के लोगों के लिए शीलगुण अर्जन की सुविधा नहीं है। मनु ने कहा है—"शूद्र को बुद्धि नहीं देनी चाहिए, न यज्ञ का उच्छिष्ट ही देना चाहिए। उसे धर्म का उपदेश भी नहीं देना चाहिए और न उसे व्रत का विधान ही बताना चाहिए।"३ अत्रि ने कहा है—"जप, तप, तीर्थ-यात्रा प्रव्रज्या और मंत्रसाधन इन छह बातों से स्त्री और शूद्र पतित हो जाते है।"४ मनु और भी कहते है—'ब्रह्मा ने शूद्र के लिए एक कर्तव्य बताया है और वह यह कि वह इन द्विजवर्णों

१ सुदुर्वहं वहन्योगं कृशो धमनिसंततः। त्वगस्थिभूतो धर्मात्मा स पपातेति नः श्रुतम्॥

२ कि मां तुदसि दुःखार्तं मृतं मारयसे च मां। त्वां तु शोचामि यो लब्ध्वा ब्राह्मण्यं न बुभूषसे॥
एकारामो ह्यहं शक्र निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः। अहिंसादममास्थाय कथं नार्हामि विप्रतां॥

३ न शूद्राय मतिं दद्यान्नोच्छिष्टं न हविष्कृतं। न चास्योपदिशेद्धर्मं न चास्य व्रतमादिशेत्॥

४ जपस्तपस्तीर्थयात्रा प्रव्रज्या मंत्रसाधनम्। देवताराधनं चैव स्त्रीशूद्रपतनानि षट्॥

की असूया छोड़ कर सेवा करे।"५ हीन वर्णो पर इन सब धर्मशास्त्र की कड़ाइयों के होते हुए भी श्रमणों ने-संतों ने सदा धर्म मे समानाधिकार के पक्ष की देशना की। धर्म-समता का प्रचार करने वाले इन संतों को समय-समय पर राज-तन्त्र की अनुकूलता और प्रतिकूलता के कारण मान-अपमान, सत्कार और अत्या-चार सभी कुछ नसीब हुआ। अशोकावदान में इन आप बीती घटनाओं की एक झलक है। अशोक सभी भिक्षुओं की वन्दना करता था। यह बात उसके अमात्य यश को अच्छी न लगी। वह बोला—'महाराज! इन शाक्य श्रमणों में सब जाति के लोग हैं, इनके सामने आपका सिर नमाना उचित नहीं।' इसका उत्तर अशोक ने नहीं दिया और कुछ समय बाद बकरे-भेड़ आदि मेध्य प्राणियों के सिर मंगाकर अमात्यों से उन्हें बेच लाने को कहा। यश अमात्य को मृत मनुष्य का सिर देकर बेचने भेजा। बकरे आदि प्राणियों के सिरों की कुछ कीमत मिली! लेकिन मनुष्य के सिर का कोई खरीददार न मिला। तब अशोक ने उसे किसी को मुफ्त में दे देने की आज्ञा दी। किन्तु उसे मुफ्त लेने वाला भी कोई न मिला। तब अशोक ने उससे पूछा—'इसे लोग मुफ्त क्यों नहीं लेते?' यश—(क्योंकि इस सिर से लोग घृणा करते हैं।' अशोक—'इसी सिर से लोग घृणा करते हैं या सब मनुष्यों के सिर से घृणा करेंगे?' यश—'महाराज, किसी के भी काटकर लाये सिर से लोग घृणा करेंगे।' अशोक—'क्या मेरे सिर से भी?' इस प्रश्न का उत्तर देने में यश बहुत हिचकिचाया, पर अशोक के अभयदान देने पर उसने कहा—'महाराज के सिर से भी लोग घृणा करेंगे।' अशोक ने इस पर कहा कि यदि मेरा ऐसा सिर भिक्षुओं के आगे झुका तो आपको बुरा क्यों लगा। वहीं अशोकावदान में जोर देकर कहा गया है कि—'लड़की के लेने-देने के समय यदि कोई जाति का विचार करे तो करे, पर धर्म करने के समय जाति का विचार नहीं किया जा सकता। धर्मक्रिया में गुण ही कारण होते हैं-जाति नहीं, गुण जाति विचार कर किसी के पास नहीं जाते।"६ इस प्रकार अशोक जैसे राजा से मान पाकर बाद में पुष्यमित्र जैसे राजाओं से उन्हें अपमान और अत्याचार भी कम नहीं सहने पड़े। वहीं अशोकावदान में कहा है—"पुष्यमित्र भिक्षुओं को मारता और संघारामों को जलाता चला। वह स्याल-कोट पहुँचा। और घोषणा की कि जो मुझे एक श्रमण का सिर देगा उसे मैं सौ दीनार दूंगा।"७ राजमान या राजकोप में श्रमणों का मूल्य नहीं कूता जा सकता। उनके मूल्य को जनता पर पड़े उनके प्रभाव से आंका जा सकता है। जनता का वह वर्ग जो शूद्र या अतिशूद्र है, जिसे श्रुति, स्मृति और पुराण प्रतिपादित धर्म में अपमान के अतिरिक्त और कुछ भी प्राप्तव्य नहीं है, उसमें कोमलता, दया और

५. एकमेव हि शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्। एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ॥

६. आवाहकालेऽथ विवाहकाले जातेः परीक्षा न तु धर्मकाले।
धर्मक्रियायां हि गुणा निमित्ता गुणाश्च जातिं न विचारयन्ति ॥

७. पुष्यमित्रो यावत् संघारामान् भिक्षूंश्च घातयन् प्रस्थितः। स यावच्छाकलमनुप्राप्तः।
तेनाभिहितं यो मे श्रमणसिरो दास्यति तस्याहं दीनारशतं दास्यामि ॥

मैत्री आदि सद्गुणों का जो विकास हुआ है, वह श्रमणों या संतों की कृपा से ही हुआ है। लोगों में निर्वैरभावना, क्षमा, एवं सहिष्णुता का विकास करना ही श्रमणता का मुख्य ध्येय है। तथागत ने स्वयं कहा है—"(दूसरे से सताये जाने पर यदि तुम टूटे कांसे के समान चुप रहो तो तुमने निर्वाण पा लिया। तुम्हारे लिए सारंभ (हिंसा या कलह) नहीं रहा।"८

इस प्रकार की श्रमणता का उपदेश देने वाले बुद्ध प्रमुख संत निर्मुक्त थे, उन पर न तो वेदों का भार था और न ब्राह्मणों की गुलामी। मानस के कवि का विचार संतों की इस निर्मुक्त धारा से प्रभावित हुआ है और इसलिए संतों के प्रति उसका हृदय बड़ा उदार है। पर उसका उपास्य संत उन संतों की परम्परा का संत नहीं है, जिसमें बुद्ध, उनके अनुयायी अनेक आचार्य एवं सिद्धगण तथा कबीर आदि हुए हैं। मानस का संत स्वतन्त्र चेता, श्रमी, यती एवं तपस्वी नहीं है; उसके सिर पर वेद और ब्राह्मणों की पराधीनता का अपार भार है, जिससे उसे सांस लेना मुश्किल हो रहा है। अब हम इस बात का मानस की सहायता से प्रतिपादन करेंगे।

मानस के आरम्भ में ही संत-वन्दना है। वह वन्दनीय संत सकल गुणों से युक्त हैं, स्वयं दुःख सहकर दूसरे के दुःखों को दूर करने वाला है, वह मंगलमय है, उसकी संगति से बुद्धि बढ़ती है, कीर्ति प्राप्त होती है, सद्गति का भरोसा हो जाता है, ऐश्वर्य भी मिलता है, मनुष्य कल्याण का भागी होता है, दुर्जन सज्जन बन जाते है। इस महनीय चरित्र वाले संत की गुणावली का वर्णन करने में ब्रह्मा, विष्णु, शिव, कवि और विद्वानों की वाणी पार नहीं पाती। फलतः ऐसा कौन है जो ऐसे संत की वन्दना न करे। मानस का कवि इन्हे बड़ी भक्ति के साथ स्मरण करता है, पर यह सब वन्दना अग्र वन्दना नहीं है। अग्र वन्दना का स्थान तो ब्राह्मण के लिए सुरक्षित है और मानस का कवि बड़े उल्लास के साथ कह उठता है—

बन्दौं प्रथम महीसुर चरना।

संत बेचारे की वन्दना की भी गयी, पर उसके चरणों को बरा दिया गया। कहना ही होगा कि मानस-कर्ता ने संत की सारी महिमा को ब्राह्मणों के चरणों के नीचे लुंठित कर दिया है।९

---

८ स चे नेरेसि अत्तानं कंसो उपहतो यथा। एस पत्तोऽसि निब्बानं सारंभो ते न विज्जति!
(धम्मपद)

९ बन्दौं प्रथम महीसुर चरना। मोह जनित संसय सब हरना॥
सुजन समाज सकल गुनखानी। करउँ प्रनाम सप्रेम सुबानी॥
मुद मंगल मय सन्त समाजू। जो जग जंगम तीरथराजू॥
मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहि जतन जहां जेहि पाई॥
सो जानब सतसंग प्रभाऊ। लोकहुँ बेद न आन उपाऊ॥
सतसंगति मुद मंगल मूला। सोइ फल सिधि सब साधन फूला॥
सठ सुधरहिं सतसंगति पाई। पारस परसि कुधातु सोहाई॥
बिधि हरि हर कबि कोबिद बानी। कहत साधु महिमा सकुचानी॥
सो मोसन कहि जात न कैसे। साक बनिक मनि गुन गन जैसे॥

मानस में संतो के गुणगान का दूसरा प्रसंग अरण्य कांड में आता है। नारद मुनि राम को सीताहरण के अनन्तर पंपा के पास प्रियाविरह में रोते और प्रलाप करते देखते हैं। नारद राम के पास जाते है। यहां पर हुए राम-नारद-संवाद में नारद का अंतिम प्रश्न संतों के विषय में होता है।

संतों के लक्षण पूछने पर राम उनसे ब्योरेवार कहते है—संत काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर—इन छह विकारों से रहित होता है। वह पुण्यात्मा, वीतराग, स्थिरचेता, अपरिग्रही, मन-वचन-कर्म में पवित्र, अपार ज्ञानी, इच्छारहित, मिताहारी, सत्यनिष्ठ और न जाने क्या-क्या होता है। पर इन सब गुणों के होते हुए विप्र में उसका प्रेम होना आवश्यक है। संत का प्रेम तो सबसे होता ही है, फिर विप्र उस प्रेम के भागी न हों सो तो हो नहीं सकता। इसलिए मानस के कवि के ख्याल से संत की विप्र में ही नहीं प्रत्युत् विप्र के चरणों में प्रीति होनी चाहिए। फलतः संत का सारा ऐश्वर्य "विप्र पद प्रेमा" से वशीभूत असमर्थ ऐश्वर्य है।१०

संतों के उत्कर्ष का तीसरा प्रसंग उत्तर कांड में आता है। राम अपने भाइयों और हनुमान के साथ उपवन देखने गये। उसी समय उचित अवसर जान सनकादि ऋषि राम के दर्शन के लिए पहुँचे। राम ने मुनियों को दण्डवत् प्रणाम किया और अपना निजी पीतांबर उनके बैठने के लिए बिछाया। फिर हनुमान तथा अन्य राम के भाइयों ने मुनियों को दण्डवत् प्रणाम किया। राम के साथ चर्चा कर मुनिगण ब्रह्मलोक चले गये। संतों के आदर-सत्कार से भरत बहुत प्रभावित हुए और राम से संतों के लक्षण वर्णन करने की प्रार्थना की। राम ने बताया कि जो लोग अपकारी के प्रति भी उपकार करने वाले, विषयरहित, शीलवान्, गुणवान्, परसुख में सुखी, पर दुःख में दुःखी, समता रखने वाले, निर्वैरी, मदरहित, वीतराग, लोभ, क्रोध, हर्ष और भय से हीन, कारुणिक, दीनदयालु, निष्कपट, भक्तिवान्, मानरहित, सबके सम्मान-

---

१० सुनु मुनि सन्तन्ह के गुन कहऊँ। जिन्ह ते मैं उन्हके बस रहऊँ॥
षट बिकार जित अनघ अकामा। अचल अकिंचन सुचि सुखधामा॥
अमितबोध अनीह मितभोगी। सत्यसार कवि कोबिद जोगी॥
सावधान मानद मदहीना। धीर धरम गति परम प्रबीना॥
गुनागार संसार दुख, रहित बिगत संदेह॥
तजि मम चरन सरोज प्रिय, तिन्ह कहुँ देह न गेह॥
निज गुन स्रवन सुनत सकुचाहीं। पर गुन सुनत अधिक हरषाहीं॥
सम सीतल नहिं त्यागहिं नीती। सरल सुभाउ सबहिं सन प्रीती॥
जप तप ब्रत दम संजम नेमा। गुरु गोबिन्द बिप्र पद प्रेमा॥
स्रद्धा छमा मयत्री दाया। मुदिता मम पद प्रीति अमाया॥
बिरति बिबेक बिनय बिज्ञाना। बोध जथारथ बेद पुराना॥
दंभ मान मद करहिं न काऊ। भूलि न देहिं कुमारग पाऊ॥
गावहिं सुनहिं सदा मम लीला। हेतु रहित पर हित रत सीला॥
मुनि सुनु साधुन्ह के गुन जेते। कहि न सकें सारद श्रुति ते ते॥

कर्ता है वे सन्त हैं। पर इतने गुणों का होना पर्याप्त नहीं है। इन सब गुणों में शायद बड़ी कमी रह गयी है, इसलिए मानस का कवि उनमें द्विज-पद-प्रीति आवश्यक समझता है। सबके प्रति कारुणिक, सबके प्रति समान भाव रखने वाला संत क्या द्विजों से द्वेष कर सकता है ? कभी भी नहीं। फिर भी मानस के कवि के ख्याल से द्विजों में ही नहीं, प्रत्युत द्विजों के चरणों मे प्रीति जब तक न हो तब तक वह संत ही कैसा ? ११

यहां दो बाते ध्यान मे रखने की हैं। पहली यह कि संतों का एक दल एक दीर्घ काल से यहां ब्राह्मणों की जन्मजात श्रेष्ठता का विरोध करता रहा है। इन श्रमणों के अनुसार ब्राह्मणत्व की सिद्धि जन्म से नहीं होती प्रत्युत् ब्राह्मणता निष्पाप होने का नाम है (वाहितपापोति ब्राह्मणो)। जो शांत, दान्त, संयत, ब्रह्मचारी और अहिंसक है, वही श्रमण है, वही ब्राह्मण है और वही भिक्षु है। ब्राह्मणता के इस स्वरूप का मान बुद्धप्रमुख श्रमणों ने पूर्वकाल में किया और परवर्ती संत इसको दुहराते रहे। पर मानस के कवि को यह सह्य नहीं है कि गुणों के कारण कोई ऐसा ऊँचा बन जाये कि जन्मजात ब्राह्मणों पर अपनी गुणजात श्रमणता या ब्राह्मणता का सिक्का जमाये। मानस का कवि ऐसा कहने को पाप-युग का प्रभाव बतलाता है जिसके फलस्वरूप शूद्र लोग ब्रह्मज्ञानी को असली ब्राह्मण मानते हैं और स्वयं श्रम एवं तप द्वारा उस ब्राह्मणता तक पहुँच कर जन्मजात ब्राह्मणों से कह बैठते हैं कि हम तुमसे हीन नहीं है––

बादहिं सूद्र द्विजन्ह सन हम तुम्ह तें कछु घाटि।
जानइ ब्रह्म सो बिप्रबर आंखि देखावहिं डाटि॥

नीची जातियों की बढ़ाबढ़ी मानस के कवि को पसन्द नहीं है, क्योंकि वे श्रुति-स्मृति-पुराण प्रतिपादित हिन्दू धर्म के समर्थक हैं, जिनमें इन लोगों का दबकर रहना ही धर्म माना गया है।

दूसरी बात यह कि श्रुति-स्मति-पुराणों से चिपटे रहने के कारण उनके प्रयर्तकों का स्थान ऊँचा मानना ही पड़ता है। इनके प्रवर्त्तक ब्राह्मण ही रहे हैं। ब्राह्मण लोग श्रमण-परम्परा से बहुत दूर के लोग है। भले ही सुदूरवर्ती पूर्व काल

---

११ सन्तन्ह के लच्छन सुनु भ्राता। अगनित श्रुति पुरान बिख्याता॥
बिषय अलंपट सील गुनागर। पर दुख दुख सुख सुख देखें पर॥
सम अभूतरिपु बिमद बिरागी। लोभामरष हरष भय त्यागी॥
कोमल चित दीनन्ह पर दाया। मन बच क्रम मम भगति अमाया॥
सबहिं मानप्रद आपु अमानी। भरत प्रान सम मम ते प्रानी॥
बिगत काम मम नाम परायन। सांति बिरति बिनती मुदितायन॥
सीतलता सरलता मइत्री। द्विज पद प्रीति धरम जनयित्री॥
ये सब लच्छन बसहिं जासु उर। जानेहु तात सन्त सन्तत फुर॥
सम दम नियम नीति नहिं डोलहिं। परुष बचन कबहूँ नहिं बोलहिं॥
निन्दा अस्तुति उभय सम, ममता मम पद कंज॥
ते सज्जन मम प्रान प्रिय, गुनमंदिर सुख पुंज॥

में होने के कारण तथा ऋषि मुनि आदि के रूप में प्रसिद्ध होने के कारण उन्हें श्रमण-कल्प समझ लिया गया हो। यही लोग ब्राह्मणों के पुरखा और गोत्र प्रवर्तक रहे हैं। पूर्व युग में इनका अपार प्रभाव रहा है। ये और इनके वंशज यह कभी नहीं चाहते कि उनका प्रभुत्व कम हो। 'मानस' का कवि इसी विचारधारा का समर्थक है। संतों का उत्कर्ष उनके गुणों के कारण होता है तो हो पर उसे ब्राह्मणों और ब्राह्मण-शास्त्रों, श्रुति, स्मृति, पुराणों की छत्रछाया में रहकर होना चाहिए। जो इनके साम्राज्य को तोड़ना चाहें तो उन्हें हाय कलियुगी! चिल्लाने के अतिरिक्त और किया ही क्या जा सकता है —

नहि मान पुरान न बेदहिं जो। हरि सेवक सन्त सही कलि सो॥

हम कबीर आदि संतों को देखते हैं कि वे जिस राम की उपासना करते है, वे न तो क्षत्रसंहारी परशुराम हैं और न असुरारि राजाराम और न वे "सालिगराम" (=शालग्राम, विष्णु) ही है। प्रत्युत वह आतमाराम हैं।१२ पौराणिक परम्परा के राम-कृष्ण को वे संदेह की दृष्टि से देखते हैं और कहते हैं—बोलो भाई! किसको भगवान् मानें—कृष्ण को, हनुमान् को या शेष को? कृष्ण ने गोबर्धन उठाया, हनुमान् ने द्रोणाचल उठाया, पर शेष ने समूची धरती ही उठा ली है। फिर बड़ा भगवान् शेष हुआ या कृष्ण? राम ने समुद्र में सेतु बांधा, तब लंका गये पर अगस्त्य मुनि उसका आचमन ही कर गये। अब दोनों में कर्ता कौन? सब लोग राम को जपते है क्योंकि वह सुखधाम है, पर स्वयं राम ने वसिष्ठ को गुरु करके किसके नाम की दीक्षा ली।१३ श्रमण-परम्परा के हिसाब से अध्यात्मभाव से बाहर—अपनी काया से परे स्थित कोई तत्त्व उपास्य नहीं है। 'योग वासिष्ठ' में राम का कथन है कि "वह बुद्ध ही सुखी है जो परोपकार करने वाली, परदुःख से दुःखित होने वाली और अपनी आत्मशांति से शीतल हुई वाणी से युक्त है। न मैं राम हूँ न मेरी कोई इच्छा है, न मेरी दुनिया के पदार्थों में कोई रुचि है। मैं शांत होकर बैठना चाहता हूँ, जैसे जिन (=बुद्ध) आत्मनिष्ठ हो बैठते है।१४

इस आत्माराम में रमण करने वालों और पौराणिक आख्यानों में प्रतिपादित राम को न मानने वालों के प्रति मानस-कवि के विचार बहुत अनुदार हैं। बालकांड के शिव-पार्वती-संवाद में पार्वती प्रश्न करती है कि परमार्थवादी जिस राम की उपासना करते हैं वे राम दशरथसुत हैं या और कोई? यदि राजपुत्र है तो ब्रह्म कैसे? और

---

१२. प्रथमै सालिगराम हैं दूजे फरसा राम। तीजे राजाराम हैं चौथे आतमराम॥
राम चारि है जगत में तीन राम व्यवहार। एक राम तत्त्व सार है ताको करो विचार॥

१३. गोबरधन धारे किसन दौना गिरि हनुमन्त। सेस सृष्टि सिर पर धरी इनमें को भगवन्त॥
सिंधु पाटि लंका गये सीता के भरतार। मुनि अगस्त्य तेहि अंचइगे दो में को करतार॥
तीन लोक रामहिं जपै जानि मुक्ति को धाम। राम बसिष्ठहिं गुरु कियो सुन्यो कौन सो नाम

१४. परोपकारकारिण्या परार्तिपरितप्तया। बुद्ध एव सुखी मन्ये स्वात्मशीतलया गिरा।
नाहं रामो न मे वांछा भावेषु न च मे मनः। शांत आसितुमिच्छामि स्वात्मनीव जिनो यथा

यदि ब्रह्म हैं तो स्त्री के विरह में उनकी बुद्धि बावली कैसे हुई ? कृपया यह बात समझाइये । शिवजी ने समझाया तो कुछ नहीं। हां, इस प्रकार के लोगों को खरीखोटी जरूर सुनायी कि ऐसा कहने वाले 'अधम नर' है, 'पाखंडी' हैं, 'पिशाचग्रस्त' है, 'लंपट', 'कपटी' हैं, 'विषयी' हैं, और न जाने क्या-क्या है।१५ संत के ऊपर वेदों और पुराणों का बोझ लादने का फल यह हुआ कि शिव को भी खरीखोटी सुनाकर अकुशल-कर्मपथ का भागी होना पड़ा।

मानस में वेदों और पुराणों को मूर्धन्य स्थान देने के कारण उसके संत को ब्राह्मणों, ब्राह्मणशास्त्रों और ब्राह्मण देवताओं की पराधीनता स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है। यद्यपि 'मानस' का कवि ब्राह्मण-शास्त्रों की दुहाई देते हुए भी उनको बन्धन का कारण मानता है और देवताओं को स्वार्थी एवं कुटिल समझता है क्योंकि ये दोनों ही प्रवृत्ति-मार्ग के प्राण है। और मानस' के कवि का झुकाव निवृत्ति-मार्ग की ओर अधिक है। वह स्वयं कहता है —

जड़ चेतनहिं ग्रंथि परि गई । जदपि मृषा छूटत कठिनई ।।
स्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई । छूट न अधिक अधिक अरुझाई ।।
छोरत ग्रंथि जानि खगराया । बिघ्न अनेक करइ तब माया ।।
रिद्धि सिद्धि प्रेरइ बहु भाई । बुद्धिहि लोभ दिखावहि आई ।।
जौं तेहि बिघन बुद्धि नहिं बाधी । तौ बहोरि सुर करहिं उपाधी ।।
इन्द्री द्वार झरोखा नाना । तँह तँह सुर बैठे करि थाना ।।
आवत देखहिं बिषय बयारी । ते हठि देहिं कपाट उघारी ।।
जब सो प्रभंजन उर गृह जाई । तबहिं दीप बिज्ञान बुझाई ।।
इंद्रिन्ह सुरन्ह न ज्ञान सोहाई । विषयभोग पर प्रीति सदाई ।।

ब्राह्मण-शास्त्रों और देवताओं के प्रति यह दृष्टि रख कर पौराणिक आख्यानों में वर्णित राम को उपास्य मानने के कारण ब्राह्मण-शास्त्रों और उनके प्रवर्तक ब्राह्मणों की प्रभुता स्वीकार किये बिना 'मानस' के कवि का काम नहीं चला। और इसी कारण 'मानस'-प्रतिपादित संत महान् होते हुए भी ब्राह्मणों की प्रभुता और ब्राह्मण-शास्त्रों की विभुता से बद्ध एक अत्यन्त असमर्थ प्राणी बनकर रह गया।

---

१५. प्रभु जे मुनि परमारथ बादी । कहहिं राम कहुँ ब्रह्म अनादी ।।
राम सो अवधनृपति सुत सोई । की अज अगुन अलखगति कोई ।।
जो नृप तनय तौ ब्रह्म किमि नारि बरह मति भोरि ।
देखि चरित महिमा सुनत भ्रमति बुद्धि अति मोरि ।।
उमा प्रश्न तव सहज सुहाई । सुखद सन्त सम्मत मोहि भाई ।।
एक बात नहिं मोहि सुहानी । जदपि मोहबस कहेहु भवानी ।।
तुम्ह जो कहा राम कोउ आना । जेहि स्रुति गाव धरहिं मुनि ध्याना ।।
कहहिं सुनहिं अस अधम नर, ग्रसे जे मोह पिसाच ।
पाखंडी हरिपद बिमुख, जानहिं झूठ न सांच ।।
अज्ञ अकोबिद अंध अभागी । काई बिषय मुकुर मन लागी ।।
लंपट कपटी कुटिल बिसेषी । सपनेहु सन्त सभा नहिं देखी ।।
कहहिं ते बेद असम्मत बानी । जिन्हकें सूझ लाभू नहिं हानी ।।

## §§ ५. भारत के दार्शनिक विकास की पड़ताल

भारतीय दर्शनों मे तीन वाद बहुत प्रसिद्ध हैं परिणामवाद सबसे पुराना है। आरम्भवाद और विवर्तवाद क्रमशः परिणामवाद के बाद विकसित हुए हैं। कपिल ने ही परिणामवाद की सबसे पहले स्थापना की। प्रकृति के महान् अहंकार, पांच तन्मात्राएँ और ग्यारह इन्द्रियां,* पांच महाभूत क्रमिक परिणाम है। कपिल, प्रकृति के परिणाम को मानने से परिणामवादी अवश्य कहे जा सकते हैं पर उनका पुरुष अपरिणामी है। पुरुष को प्रकृति से सर्वथा अछूता प्रतिपादन करने में ही उन्होंने परिश्रम किया है। एवं वे प्रधानतः नित्यवादी या शाश्वतवादी ही हैं। प्रकृति का परिणाम स्वीकृत करने में वे प्रकृति को मूल तत्त्व मानकर चले हैं। दूध के परिणाम दही में जैसे दूध से अभिन्नता रहती है, वैसे ही प्रकृति के विकार प्रकृति से अभिन्न रहते हैं। अभिप्राय यह है कि कार्यमात्र कारण से अभिन्न रहता है। एवं कार्य-कारण में अभिन्न होने के कारण कारणावस्था में सत् ही होता है। सो कपिल के परिणामवाद का पर्यवसान एकसत्, नित्य या शाश्वत पदार्थ के मानने में ही होता है। योग भी सांख्य के सब तत्त्वों को मानकर चलता है। ईश्वर उसमें अधिक माना गया है। जो पुरुष या आत्मा का बड़ा भाई है। सांख्य आत्मवादी होते हुए भी अनीश्वरवादी था पर योग के साथ दोनों ही लगे हैं। जैनियों को ईश्वरवाद से परहेज जरूर है पर आत्मवाद (=जीववाद) उनके भी गले का हार है। इस प्रकार सांख्य, योग और जैन तीनों ही एक नित्य या शाश्वत के चक्र में पड़े हैं, उनका परिणामवाद या परिवर्तनवाद उस नित्य-शाश्वत आत्मा के लोक-परलोक संबंध और मोक्ष प्रक्रिया में सहायता के लिए ही है। लोकायत, नित्य या शाश्वत के फेर में नहीं है पर उसकी निगाह बहुत मोटी है। वह परलोक से दूर भागता है और लोक में भी इतना अधिक भूतवादी है कि मन से बढ़कर उसे आंख पर ही विश्वास है। मनन से उसे परहेज है और दार्शनिकता उसके लिए हवा में महल खड़े करने से अधिक कोई और बात नहीं है। परिणाम या परिवर्तनशीलता हो तो हुआ करे, उसे खाने-पीने और मौज उड़ाने से फुरसत ही कहां जो उस पर मनन करे! पर इस मोटी निगाह-वाले में नित्य-शाश्वत के फंदे से निकल भागने की समझ तो है ही जो कपिल, पतंजलि और महावीर में नहीं पायी जाती जो बहुत ज्यादा ज्ञानवान् समझे जाते हैं।

बुद्ध ने आत्मवादियों का रंग-ढंग ठीक-ठीक पहचाना, लोकायत की मोटी निगाह को भी लक्ष्य में रखा। परिणामवाद को सकारणता और परिवर्तन के रूप में उन्होंने उपस्थित किया। यह एक नयी दृष्टि थी। कार्य-कारण से न तो अनन्य है और न अन्य ही। जैसे अंकुर न तो बीज ही है और न बीज से भिन्न ही। कार्य को कारण से अन्य मानने पर कारण का उच्छेद मानना पड़ता है तथा अनन्य या अभिन्न मानने पर कारण का शाश्वतवाद उपस्थित हो जाता है। बुद्ध कार्य को कारण से अन्य नहीं मानते सो लोकायत के उच्छेदवाद से बच जाते हैं। अनन्य भी नहीं

---

*ग्यारह इन्द्रियां अहंकार की परिणति है। पंच महाभूत पंच तन्मात्राओं के परिणाम है। यह १६ प्रकृति के चरम परिणाम हैं जिनका फिर परिणाम नहीं होता।

मानते अतः आत्मवादियों के शाश्वतवाद का भी झमेला नहीं रहता। कार्य और कारण के 'न तत् नान्यत्' अथवा 'अशाश्वत और अनुच्छेद' वाद जिस सकारणता और परिवर्तन के नियम पर विकसित हुए हैं वह 'प्रतीत्यसमुत्पाद' कहलाता है। बौद्धों के पिछले सभी दार्शनिकवाद इसी प्रक्रिया के आधार पर हैं।

कौटिल्य से पूर्व सांख्य, योग और लोकायत दर्शन व्यवस्थित हो चुके थे। वैसे ही नागार्जुन (१५० ई०) से पूर्व हीनयानी सौत्रान्तिक और वैभाषिक दर्शन विकसित और व्यवस्थित हो चुके थे। वैभाषिक दर्शन कनिष्क (७८ ई०) के समय में सम्पन्न विभाषा टीका के सहारे विकसित हुआ है। सौत्रांतिक दर्शन टीका के सहारे नहीं बल्कि सूत्रान्त (=सूत्र=बुद्ध-उपदेश+अन्त=सिद्धांत) या मूल बुद्धवचनों के आधार पर विकसित हुआ। दोनों सर्वास्तिवादी हैं। जो कुछ सत् या वर्तमान है उसे तीन कालों में स्वीकार करते हैं। जैसे कपिल ने पहले पहल गिनकर (=संख्या कर) पचीस तत्त्व गिनाये। ऐसे ही बाद में औरों ने भी अपनी मान्यताओं को गिनकर संख्या कर बताया। यद्यपि संख्या करने के कारण कपिल के दर्शन को जो सांख्य नाम मिला वह संख्या करने पर भी पिछलों को न मिला, पर संख्या तो लोग करते ही रहे। सांख्य ने जैसे पुरुष और प्रकृति के दो विभागों में पचीस तत्त्वों की व्याख्या की वैसे ही सौगततन्त्र में पांच स्कन्धों में बाह्य और आभ्यन्तर तत्त्वों को समझाया है। बाह्य जगत् को रूपस्कन्ध कहते हैं जिसमें पांच इन्द्रिय, पांच अर्थ, एक अविज्ञप्ति* और चार महाभूत (=पृथ्वी, अप, तेज, वायु) हैं। आभ्यन्तर जगत् चार स्कन्धों में विभक्त है। मन (=इन्द्रिय), धर्म (=मन के विषय) और मनोविज्ञान तथा पांचों इन्द्रियविज्ञान यह सब विज्ञानस्कन्ध के अन्तर्गत हैं। सुख, दुःख या तदभाव रूप जो अनुभव होता है, उसे वेदनास्कन्ध कहते हैं। रूप और विज्ञान का संबंध होने से जो इन्द्रियों द्वारा ज्ञान होता है तथा मन का धर्म से संबंध होने पर जो मनोविज्ञान होता है वह विज्ञानस्कन्ध में अन्तर्भूत है पर इन छह विज्ञानों के विषयों की मन मे जो विशेष रूप से जानकारी (=संज्ञा=सम्यक् ज्ञा=जानकारी) होती है वह संज्ञास्कन्ध है। जैसे आंख से जो वर्ण और संस्थान का सामान्यतया ज्ञान होता है वह विज्ञानस्कन्ध के अन्तर्गत है पर बाद मे 'यह नीला' है, 'यह पीला है' 'यह ह्रस्व है', 'यह दीर्घ है', 'यह पुरुष है', 'यह स्त्री है', इत्यादि जो विशेष रूप से या सम्यक् रूप से ज्ञान होता है वह संज्ञास्कन्ध है। इन चारों स्कन्धों के अतिरिक्त मन पर जो विषय ज्ञान की वासना अपनी छाप छोड़ जाती है वह संस्कार स्कंध है। ये पांचों स्कन्ध संस्कृत है—अनित्य है—परिवर्तनशील है। इन पांचों स्कन्धों के अतिरिक्त और कोई सत् पदार्थ नहीं है। ये सब सत् है पर परिवर्तनशील होने से क्षणिक हैं। पांचों स्कन्ध

---

* अभिधर्मकोश १।११ मे अविज्ञप्ति का लक्षण यों है —
"विक्षिप्ताचित्तकस्यापि यो ऽनुबन्धः शुभाशुभः।
महाभूतान्युपादाय साह्यविज्ञप्तिरुच्यते ॥"
यह अविज्ञप्ति ब्राह्मण दार्शनिकों के 'अदृष्ट' से तुलनीय है।

है पर प्रतीत्य समुत्पन्न होने से —सकारणता और परिवर्तन के नियम में प्रतिबद्ध होने से नित्य नहीं है। यह बात सौत्रान्तिकों और वैभाषिकों को मंजूर है। पर बाह्य सत्ता के स्वीकार करने में दोनों की प्रक्रिया में कुछ अन्तर है। वैभाषिक बाह्य-वस्तु का प्रत्यक्ष मानते है। आंख से नीले कपड़े या घड़े का जो ज्ञान होता है उस ज्ञान में तीन बातें ध्यान देने योग्य है । 'नील' (घट या पट) प्रमेय है । 'आंख' साधन है । क्योंकि उसी से नील-ज्ञान होता है । 'नील-ज्ञान' प्रमा है । जिस विषय से ज्ञान उत्पन्न होता है वह विषय के सदृश ही होता है । जैसे नील (घट या पट) से उत्पन्न ज्ञान नील सदृश या नीलाकारक ही होता है । आंख से जो नील (घट या पट) का ज्ञान होता है वह नील (घट या पट) के संवेदन का व्यवस्थापक नहीं होता प्रत्युत नील-ज्ञान में जो नीलाकारता या नील सारूप्य का अनुभव होता है वह नील (घट या पट) के संवेदन का व्यवस्थापक है। इस प्रकार नीलज्ञान 'प्रमा' में जो 'नीलाकारता या नील सारूप्य' है, वह 'प्रमाण' है जिससे नील (घट या पट) 'प्रमेय' का संवेदन होता है। एवं सौत्रान्तिकों के न्याय से 'नील-सारूप्य' से नील (घट या पट) का अनुमान होता है। सो सौत्रान्तिक बाह्यर्थानुमेयवादी हैं जब कि वैभाषिक बाह्यार्थप्रत्यक्षवादी है। इतने अन्तर को छोड़ कर दोनों सर्वास्तिवादी हैं। इनकी सर्वास्तिता प्रतीत्य-समुत्पाद से प्रतिबद्ध होने के कारण अनित्य है—क्षणिक है ।

सर्वास्तिवादी दर्शन जब देशव्यापी हो रहा था उसी समय नागार्जुन (१५०ई०) उत्पन्न हुए । दक्षिण कोसल में ब्राह्मण कुल में इनका जन्म हुआ । यह केवल दार्शनिक ही नहीं प्रत्युत रसायन-शास्त्री और योगी भी थे। एक पहुँचे हुए सिद्ध के रूप में इनकी प्रसिद्धि केवल यौगिक क्रियाओं के कारण न थी बल्कि रासायनिक सिद्धियों के कारण भी थी। सोया हुआ महायान इनके समय में ही इनके कारण जागा और पीछे अपनी महिमा में सभी बौद्ध सम्प्रदायों को आत्मसात् कर लिया । दार्शनिक जगत् में इन्होंने एक क्रांति उपस्थित की थी । प्रतीत्य समुत्पाद मानने के कारण सर्वास्तिवादी सत्ता को क्षणिक मानते थे और उसे ही परमार्थ सत् समझते थे। नागार्जुन ने प्रतीत्य समुत्पाद की व्याख्या करते हुए बताया कि प्रतीत्य समुत्पाद अशाश्वत-अनुच्छेदवाद उपस्थित करता है (माध्यमिक कारिका १८।१०) । परिणाम के पीछे — परिवर्तन की ओट में —नित्यता देखना या अनित्यता देखना दोनों ही किनारे की बातें हैं, एकान्तवाद है। क्योंकि नित्यता देखने का अर्थ है शाश्वतवाद मानना और अनित्यता देखने का अर्थ है उच्छेदवाद मानना। सो प्रतीत्यसमुत्पाद का अभिप्राय नित्य-एकान्तवाद या अनित्य-एकान्तवाद मानने में नहीं है प्रत्युत नित्यानित्य-विनिर्मुक्त शुद्ध शून्यवाद मानने में है। शून्यवाद ही मध्यमा प्रतिपदा है* । हमें जो कुछ प्रतीत हो रहा है वह स्वप्न जैसा ही है। जैसे जाग पड़ने पर स्वप्न नहीं रहता वैसे संसार भी मोह निद्रा टूटने पर नहीं रह जाता । इन्द्रजाल की माया दिखलाने वाला जानकार जैसे उस माया को कुछ भी (=सत् या असत्) नहीं समझता वैसे ही तत्त्व संसार को कुछ भी नहीं समझता । वह माया और मायामय पदार्थों को देखता है और जानता है

* माध्यमिकारिका १५-१०, २४।१८

कि ये सचमुच कुछ नहीं हैं।† सत् या असत्, नित्य या अनित्य दृष्टि का होना ही परमार्थ सत्य है। सर्वास्तिवादियों की सत्ता की जो अनित्यता दृष्टि है वह चक्षु-न्द्रियों से प्रत्यक्ष होने से संवृत्ति सत्य या व्यवहार सत्य है। तैर्थिकों की नित्यता दृष्टि न तो संवृति सत्य ही है और न परमार्थ सत्य ही।

सत्ता को नित्य और अनित्य दोनों दृष्टियों से न देखने का अर्थ सत्ता या भाव को परमार्थ दृष्टि से अस्वीकार कर देना है। इस मान्यता से सर्वास्तिवादी दार्शनिक जो सत्ता की अनित्य दृष्टि को परमार्थ सत् समझते थे एक झटका लगा। तैर्थिक सत्ता को नित्य दृष्टि से देखते थे, परिणाम या परिवर्तन के कारण अनुभूत होती हुई अनित्यता की ओर चश्मपोशी करने के अभ्यासी थे। अब उनसे न रहा गया। उपनिषदों से ब्राह्मणों में जो तत्त्व-चिन्तन की धारा बह रही थी उसमें नागार्जुन के शून्यवाद ने बांध का काम किया जिससे वह थोड़ा मुड़कर बहने लगी। उसके घुमाव-फिराव के कुछ यत्न पहले भी हो चुके थे। लोकायत तो हमेशा ही फूहड़ शब्दों में श्रुति की खबर लिया करते थे। जैन भी श्रुति से परहेज रखना कल्याणकर समझते थे यद्यपि श्रोत्रियों की नित्य दृष्टि के कायल थे। सांख्य, योग जो वेद के विरोधी न होते हुए भी श्रोत्रियों के मार्ग को "अविशुद्धिक्षयातिशय-युक्तः" समझते थे, भले ही नित्य दृष्टि मानते थे। श्रोत्रियों के सामने दो बातें थीं—एक तो श्रुति-प्रामाण्य स्थापित करना। दूसरे, अपने दार्शनिक चिन्तन को इस रूप में उपस्थित करना जिसमें वह नित्य दृष्टि की रक्षा हो। नागार्जुन के बाद के दार्शनिकों को इसीलिए दो बातों में व्यग्र देखा जाता है एक तो अनित्य और अभाव (क्षणिक और शून्य) वादों का खण्डन करना और जैसे भी हो श्रुति-प्रामाण्य का मण्डन करना।

कणाद ने कार्य के कारण का होना आवश्यक माना और बताया कि कारण के गुण कार्य के गुणों के आरम्भक होते हैं।* कारण-कार्य के कणाद-सिद्धांत में कार्य के गुण भले ही कारण से आते हों पर कार्य कारण से अभिन्न नहीं माना जाता था। कपिल जहां कार्य को अपनी कारणावस्था में सत् मानते थे वहां कणाद कार्य को अपनी उत्पत्ति से पूर्व असत् (=प्रागभाव) मानते हैं। अभिप्राय यह है कि कणाद कार्य-कारण के अभेद से अपनी नित्य-दृष्टि नहीं सिद्ध करना चाहते। इस विषय में उनकी अपनी प्रक्रिया है जो पहले के दार्शनिकों के पास न थी। उन्होंने द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय छः पदार्थों में सत्ता का वर्गीकरण किया। इनमें से 'सामान्य' को कणाद ने नित्य-दृष्टि के सिद्ध करने का साधन बनाया। सामान्य क्या है? व्यक्तियों के परस्पर भिन्न होते हुए भी उनमें जो एक अभेद देखा जाता है वह सामान्य है। राम, कृष्ण, देवदत्त, यज्ञदत्त सब हैं भिन्न-भिन्न, पर उन्हें एक 'मनुष्य' शब्द से भी कहा जाता है। सो यह 'मनुष्यत्व' जिसके कारण भिन्न-भिन्न राम, कृष्ण, देवदत्त, यज्ञदत्त व्यक्तियों को मनुष्य कहा जाता है, 'सामान्य' है। यह नित्य है,

† महायानविंशक १७, १८

* "कारणाभावात् कार्याभावः" "नतु कार्याभावात् कारणाभावः" (वैशेषिक-सूत्र १।२।१, २) कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः (वैशेषिक सूत्र २।१।२४)।

क्योंकि देवदत्तादि के न रहने से भी नष्ट नहीं होता, व्यापक भी है क्योंकि व्यक्ति उससे व्यतिरिक्त नहीं होता। इसी प्रकार द्रव्य, गुण और कर्म तीनों में 'इदं सत्' (=यह है) की प्रतीति होती है। इस सत् की प्रतीति से 'सत्ता' की सिद्धि होती है।† यह 'सत्ता' जो सामान्य के बल पर सिद्ध हुई नये ढंग से नित्यवाद की स्थापना करती है।

वादरायण ने अपने से पहले की दार्शनिक प्रवृत्तियों का सिंहावलोकन करते हुए श्रुतियों (=उपनिषदों) की दार्शनिक पद्धति को एक व्यवस्थति रूप में उपस्थित किया। अपनी दार्शनिक प्रक्रिया को परिणाम के सहारे स्थापित किया। इनके परिणामवाद में पहले के परिणामवाद से कुछ मौलिक भेद है। क्योंकि पुराने परिणामवाद में सत्ता का परिणाम तो माना जाता था पर कपिल जीव (=पुरुष) को, पतंजलि जीव और ईश्वर को, कणाद जीव और ईश्वर के अलावा मन, काल, दिशा, आकाश आदि को परिणाम से अछूता ही रखते थे। वादरायण ने सत्ता और चेतना का अलग-अलग विभाग नहीं किया और बताया कि "ब्रह्म" सत् भी है और चित् भी है। सत्ता और चेतना अविनाभूत है। इसी ब्रह्म के परिणाम से नाना रूप सृष्टि देखी जाती है। सम्पूर्ण अर्थ जगत को अपने कारण ब्रह्म से अनन्य है।

बौद्ध दार्शनिक पांचों स्कन्धों का परिणाम (=प्रतीत्यसमुत्पन्नत्व) मानते थे। और उन्हें सत् और क्षणिक समझते थे। विज्ञान स्कन्ध, जिसके समकक्ष अन्य दार्शनिकों का आत्मा था प्रतीत्यसमुत्पन्न होने से परिणाम में अछूता नहीं था; इधर वादरायण ने भी ब्रह्म, जो सत् चित् दोनों है, का परिणाम मान लिया तो बौद्ध दार्शनिकों के प्रतीत्यसमुत्पाद और वादरायण के परिणामवाद में एक प्रकार की सरूपता आ गयी फिर भी भेद बना रहा। वह भेद दो प्रकार का था। प्रथम तो बौद्ध दार्शनिकों ने सत्ता और चेतना (=विज्ञान) को एक नहीं माना जब कि ब्रह्म परिणामवाद में सत्ता और चेतना दो वस्तुएं नहीं है। दूसरा भेद था अनित्य-दृष्टि जब कि ब्रह्मवाद नित्यदृष्टि का व्यवस्थापक है। अब इस ब्रह्मवाद की विरोधी दो बातें थीं—एक तो बौद्धों की नित्य-विरोधी दृष्टि, दूसरी चेतन-सत्ता (आत्मा) को परिणाम से अस्पृष्ट रखने की दृष्टि। वादरायण ने दोनों के निराकरण का यत्न किया।

वादरायण के सामने सर्वास्तिवादियों और माध्यमिकों दोनों की नित्य-विरोधी दृष्टियां थीं। उन दृष्टियों को सामने रखते हुए उन्होंने यह प्रमाणित करने पर बल लगाया कि बिना किसी नित्य या स्थिर वस्तु के परिणाम सम्भव नहीं है। कारण और कार्य का पूर्वापरभाव होता है। कारण पहले और कार्य पीछे होता है। कार्य की उत्पत्ति के क्षण में कारण का निरोध हो जाता है। सो कार्योत्पत्ति से पूर्वक्षण में जब कारण निरुद्ध ही हो गया तो कार्य के प्रति उसका हेतुभाव नहीं रहा। यदि यह मान लो कि कार्योत्पत्ति के क्षण तक कारण

† 'सदिति यतो द्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता' (वैशेषिकसूत्र १।२।७)

रहता है तो एक तो कारण और कार्य का पूर्वापर भाव नहीं रहता दूसरे यह दावा कि सब कुछ क्षणिक है खारिज हो जाता है ।* यह तो हुई सर्वास्तिवादियों की बात । बचे माध्यमिक, पर उनकी बात बड़ी पेचीदा थी । नित्य और अनित्य दोनों दृष्टियों से उन का संबंध न था । उनके लिए सत्ता की नित्यता और अनित्यता से झगड़ना सपने मे देखी गयी लक्ष्मी के लिए बेकार लड़ना था। वादरायण ने उनके प्रति कहा कि सब तरह सोचने पर भी आप की बात कैसे उपपन्न होती है सो तो मेरी समझ में नहीं आया पर आंख से आप की बात मे विरोध है। सत्ता की उपलब्धि तो हो ही रही है फिर नित्यानित्य दृष्टि से सत्ता को न देखने का अर्थ सत्ता को न मानना ही है जो समझ से बाहर की बात है ।†

वादरायण परिणामवाद मानते थे पर परिणामवाद उनकी समझ में ठीक-ठीक न आया था । ठीक-ठीक परिणामवाद को सबसे पहले नागार्जुन ने ही समझा था। परिणाम का नित्य दृष्टि से कोई मेल नहीं है क्योंकि नित्यता का अर्थ ही कूटस्थता या परिणाम का न होना है । बाद में शंकर को यह बात समझ में आयी। उन्होंने देखा कि परिणामवाद मानने से नित्यता की सिद्धि करना असंभव है अतः उन्होंने परिणामवाद को विवर्तवाद में परिणत किया। परिणति को मिथ्या मानना विवर्तवाद है । जब परिणाम ही मिथ्या हो गया तो 'नित्यता' को किसी से डर न रहा । सत्ता की अनित्य-दृष्टि के साथ भी परिणामवाद की संगति नहीं बैठती क्योंकि 'अनित्य' का अर्थ है सत्ता का विनाश या उच्छेद मानना । जब सत्ता उच्छिन्न ही हो गयी तो परिणाम अब हो तो किसका और कैसे ? एवं परिणाम न तो शाश्वतवाद से और न उच्छेदवाद से ही सम्बन्ध रखता है प्रत्युत् वह अश्वाश्वत-अनुच्छेदवाद है, नित्यानित्य विनिर्मुक्त शून्यवाद है ।

कपिल प्रकृति का परिणाम मानते थे । प्रकृति चेतन न थी ? बौद्ध सर्वास्तिवादी दार्शनिक परमाणुओं का परिणाम मानते थे; ये परमाणु भी चेतन न थे । कणाद ने सर्वास्तिवादियों से जो परमाणुवाद लिया उसे भी चेतन नहीं माना किन्तु कपिल की प्रकृति की भांति उन्हें नित्य माना जब कि बौद्धों के परमाणु क्षणिक थे । वादरायण का ब्रह्म कोरा सत् न था पर चित् भी था जब कि परमाणु और प्रकृति कोरे सत् थे। अतः वादरायण को चेतन सत्ता का परिणाम सिद्ध करने के लिए जो लोग कोरी सत्ता का परिणाम मानते थे उनके निराकरण की अपेक्षा मालूम हुई। कणाद परमाणुओं के संयोग और वियोग से सर्ग एवं लय का होना मानते थे । संयोग और वियोग दोनों हैं कर्म-सापेक्ष । बिना क्रिया या व्यापार के परमाणुओं का संयोग-वियोग संभव नहीं है। और

---

* "उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात् । असति प्रतिज्ञोप रोधो यौ गपद्यमन्यथा ।" (ब्रह्मसूत्र २।२।२०, २१) ।

† "नाभाव उपलब्धेः। सर्वथानुपपत्तेश्च ।" (ब्रह्मसूत्र २।२।२८, ३२): शंकर ने विज्ञानवाद के खंडन मे पूरे (२।२।२८, ३२) अभावाधिकरण को लगाया है । यद्यपि सूत्रार्थ बिना खींचातानी के शून्यवाद की ओर चला जाता है ।

कर्म के लिए कोई दृष्ट कारण है नहीं अतः अदृष्ट को कारण मानना होगा। पर अदृष्ट के अचेतन होने के कारण उसमे सामर्थ्य नहीं है कि परमाणुओं में क्रिया उत्पन्न कर सके।* कपिल की प्रकृति भी अचेतन है पर उसके प्रति बादरायण अपना यह तर्क न उपस्थित कर सकते थे क्योंकि कपिल के मत से प्रकृति सर्व-बीज अर्थात् सब की उपादान कारण और प्रवृत्ति स्वभाववाली है। अतः बादरायण ने यह तर्क उपस्थित किया कि प्रवृत्ति अचेतन का धर्म नहीं है। प्रकृति अचेतन है अतः उसमे प्रवृत्ति नहीं मानी जा सकती।† और बिना प्रवृत्ति परिणाम हो नहीं सकता।

ऊपर बहुत ही संक्षेप में हमने भारत की दार्शनिक प्रवृत्ति को देखा है। उसमें एक क्रमबद्ध विकास है। लोकायत सत्ता से चेतना की उत्पत्ति और उसका विनाश मानते थे। कपिल ने सत्ता और चेतना दोनों को अलग-अलग माना जिसमें सत्ता को परिणामी और चेतना को अपरिणामी माना। बौद्ध दार्शनिकों ने भी सत्ता और चेतना को अलग-अलग माना पर परिणामी प्रतिपादित किया। बादरायण ने सत्ता और चेतना को अलग-अलग न मानकर अभिन्न माना और 'ब्रह्म' शब्द द्वारा प्रकाशित किया। पिछले दार्शनिकों की भांति परिणाम इन्होंने भी माना।

वसुबन्धु ने इन सब दार्शनिक गतिविधियों को देखा और एक नयी बात कही। इन्होंने कहा कि सत्ता के न मानने से भी केवल चेतना से भी काम चल सकता है। चेतना के लिए बौद्ध दार्शनिकों का विज्ञान शब्द है और ब्राह्मण दार्शनिकों का आत्मा शब्द है। आत्मा और विज्ञान दोनों एक ही नहीं हैं। आत्मा नित्य या कूटस्थ है और विज्ञान परिवर्तनशील। सो वसुबन्धु के इस विज्ञानवाद में नित्यात्मवाद की झलक नहीं है। इन्होंने सब कुछ विज्ञान का परिणाम कहा और बताया कि 'सत्ता' जैसी कोई वस्तु है ही नहीं, सब कुछ विज्ञान ही विज्ञान है।

आलय, मन और प्रवृत्ति भेद से विज्ञान तीन प्रकार का है। कपिल की प्रकृति जैसे सर्व बीज (=सम्पूर्ण कार्य जगत् की उपादान) हैं, बादरायण का ब्रह्म जैसे सर्वबीज है वैसे वसुबन्धु का यह विज्ञान सर्वबीज है। सर्वबीज होने के कारण ही मूल विज्ञान को आलय विज्ञान कहते है। सभी धर्मों का यह कारण रूप से आलय (=स्थान या आश्रय) होने के कारण मूल विज्ञान 'आलय' कहलाता है। आलय विज्ञान के संतान से प्रवृत्त हुआ विज्ञानान्तर जो सत्काय-दृष्टि (नित्यदृष्टि, आत्मदृष्टि) मान (=अहंकार), मोह और राग नामक क्लेशों से युक्त होने के कारण बन्धन का कारण है 'मन' कहलाता है। रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श और धर्म (=सभी मानसिक भावनाएं) इन छह विषयों की जो प्रतीति है वह 'प्रवृत्ति विज्ञान' है। जैसे जल में तरंगें (पवनादिजनित क्षोभवश) उत्पन्न होती रहती है वैसे ही ये विज्ञान भी आलय विज्ञान में प्रत्ययवश या कारणवश सब के सब एक साथ या पृथक्-पृथक् उत्पन्न होते रहते हैं।**

* उभयथापि न कर्म अतस्तदभावः (ब्रह्मसूत्र (२।२।१२)

† प्रवृत्तेश्च (ब्रह्मसूत्र २।२।२)

** त्रिंशिका विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिकारिका, २, ५, ८, १५

इन विज्ञानों में प्रवृत्ति-विज्ञान के लिए बाह्य सत्ता माननी पड़ती है, किन्तु वसुबन्धु कहते हैं कि इनके लिए भी बाह्य सत्ता की अपेक्षा नहीं। रूप आदि वस्तुतः है, इसलिए उनकी प्रतीति होती है। यह बात मिथ्या है। जैसे तिमिर रोगी को केश, जाल आदि जो समसुच उसके सामने नहीं हैं प्रतीत होते हैं, वैसे ही अर्थ-सत्ता न होते हुए भी रूपादि की प्रतीति हुआ करती है। अतएव विज्ञान के अतिरिक्त और कोई बाह्य सत्ता नहीं है।†

पर विज्ञान के अतिरिक्त बाह्यसत्ता न मानने से कितनी ही आपत्तियां उठ खड़ी होती हैं। विज्ञान के अतिरिक्त रूपादि बाह्य अर्थ है क्योंकि बिना बाह्य अर्थ के चार नियम नहीं होने चाहिएं :—

(१) देश-नियम—जिस स्थान में रूपादि पदार्थ होते हैं वहीं रूपादि विज्ञान भी देखे जाते हैं। जहां नहीं होते वहां रूपादि विज्ञान की उत्पत्ति नहीं देखी जाती। सो यह देश या स्थान का नियम तभी बनता है जब रूपादि बाह्य पदार्थ हों। यदि बाह्य-पदार्थ न माने जाएं तो सर्वत्र ही रूपादि की प्रतीति होनी चाहिए। पर होती नहीं। अतः देश का नियम होने से बाह्यसत्ता का अपलाप नहीं किया जा सकता।

(२) काल-नियम—जिस समय विशेष में रूपादि अर्थ कहीं पर होते हैं उसी समय विशेष में रूपादि विज्ञान उत्पन्न होते हैं। सर्वदा सब समय में उत्पन्न नहीं होते। अतः जान पड़ता है कि रूपादि बाह्यसत्ता के बिना रूपादि विज्ञान उत्पन्न नहीं हैं। इस प्रकार विज्ञानोत्पत्ति के साथ काल का नियम होने से बाह्य-सत्ता का अपलाप नहीं किया जा सकता।

(३) संतान-नियम—जहां जिस समय में रूपादि अर्थ होते हैं वहां सभी अविकलेन्द्रियों को उनकी प्रतीति होती। ऐसा नहीं होता कि किसी को हो और किसी को न हो जैसा कि तिमिर रोगी को तो केश-जाल आदि दिखायी पड़ते हैं पर औरों को नहीं। यदि बिना रूपादि बाह्य अर्थ के ही विज्ञान की उत्पत्ति होती तो वह तैमिरिक की असदर्थ-प्रतीति की भांति कुछ को होती और कुछ को न होती, पर रूपादि अर्थ जहां जब होते हैं उनकी सबको ही प्रतीति होती है, अतः विज्ञानोत्पत्ति में सबके साथ संतान-नियम (प्रतीति का सिलसिला) का संबंध होने से बाह्यसत्ता का अपलाप नहीं किया जा सकता।

(४) कृत्य-क्रिया-नियम—रूपादि बाह्य अर्थों से ही शारीरिक कृत्य हो सकते हैं। स्वप्न में देखे गये अन्न-जल से शरीर की भूख-प्यास नहीं मिट सकती। अतः कोरे विज्ञान मात्र से दुनिया का काम नहीं चल सकता। दुनिया की कृत्य-क्रिया के लिए रूपादि अर्थ अपेक्षित हैं। इस प्रकार भी बाह्यसत्ता का अपलाप नहीं किया जा सकता।

एवं इन चार नियमों की पड़ताल करने से जान पड़ता है कि विज्ञान से व्यतिरिक्त भी बाह्य रूपादि-अर्थसत्ता है।*

† विंशिका विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिकारिका, १। * विंशिका २।

वसुबन्धु ने इन आक्षेपों का समाधान करते हुए कहा कि बाह्य पदार्थ के अभाव मे भी देश, काल, संतान और कृत्य-क्रिया के नियम देखे जाते हैं। उदाहरण के लिए स्वप्न को लीजिये। स्वप्न में बाह्य अर्थ के बिना ही किसी स्थान विशेष में (न कि सर्वत्र) बाग-बगीचे, नदी-तालाब, सुन्दरियां दिखाई पड़ जाती हैं और वहां भी किसी समय दिखाई पड़ जाती है, हमेशा नहीं। यह स्वप्नदृश्य कृत्य-क्रिया करने में भी समर्थ होते हैं। रही यह बात कि, बाह्य पदार्थ की प्रतीति सभी अवि-कलेन्द्रियों को होती है पर बाह्यार्थ के बिना तिमिर–रोगी आदि को जो पदार्थ प्रतीति होती है वह सबको नहीं, अतः बाह्यार्थ मिथ्या सिद्ध न हुआ। सो इस युक्ति में भी जान नहीं है। प्रेतों को मल-मूत्र, पूय आदि से परिपूर्ण नदी दिखाई पड़ती है यद्यपि वस्तुतः वह होती नहीं। नारकी जीवों को भी इसी प्रकार भयंकर दृश्य दिखाई पड़ते हैं। यम-किंकरों के दर्शन भी उन्हें होते हैं और उनसे वे दण्ड भी पाते है, यद्यपि ये सब वस्तुतः नहीं होते।* इन आगमनूलक दृष्टान्तों को यदि छोड़ दें तो स्वप्न का ही उदाहरण काम दे सकता है क्योंकि बाह्य पदार्थ के बिना ही सबको सपने दिखाई पड़ते हैं, और स्वप्न काल में सभी को बाह्य पदार्थ के बिना प्रतीति होती है, ऐसा नहीं कि किसी को हो और किसी को नहीं। एवं बाह्य पदार्थ के बिना ही देश, काल, संतान, और कृत्य क्रिया की व्यवस्था हो जाती है। अतः इन चार नियमों के लिए बाह्य–सत्ता का मानना जरूरी न रहा।

सर्वास्तिवादी बाह्य–सत्ता पर बहुत जोर देते थे, कणाद और अक्षपाद भी उसके हामी थे। तीनों ही परमाणुओं को मानते थे। बाह्य पदार्थ परमाणुओं के संयोग से बनते हैं। परमाणुरूपी अवयवों से बना पदार्थ परमाणुओं का समूहमात्र ही नहीं है प्रत्युत उन अवयवों से विलक्षण वह एक स्वतन्त्र पदार्थ है जो 'अवयवी' कहलाता है। परमाणुओं को संयोग तथा अवयवी को कणाद और अक्षपाद दोनों मानते हैं। परमाणुओं के संयोग से एक विलक्षण अवयवी बन जाता है। यह बात सर्वास्तिवादी नहीं मानते। उनके मत से परमाणु-पुंज ही पदार्थ है। कुछ भी हो इन सब के मत से परमाणु निरवयव हैं। वसुबन्धु को इन दार्शनिकों पर बड़ा तरस आया। इन्होंने कहा कि जिन परमाणुओं के बूते बाह्य-सत्ता सिद्ध करने चले हो पहले एक बार उनको ही संभाल लो। संयोग सावयव का देखा जाता है। परमाणुओं को एक ओर निरवयव मानना और दूसरी ओर उनका संयोग मानना यह कैसे बन सकता है।† तुम्हारे मत से परमाणु सावयव हो नहीं सकते और निरवयव का संयोग नहीं हो सकता और बिना संयोग हुए अवयवों से अवयवी भी नहीं बना, सो कणाद और अक्षपाद की बाह्य–सत्ता जो अवयवी के सिद्ध होने पर निर्भर थी परास्त हो गयी।

वसुबन्धु ने बाह्य–सत्ता को मिथ्या सिद्ध करने में जो परिश्रम किया उससे परवर्ती दार्शनिकों को बड़ा बल मिला। गौड़पाद ने विज्ञानवाद की सिद्धि के

* विंशिका ६, ४।    † विंशिका १३ का उत्तरार्ध।

लिए किये गए बाह्य-सत्ता के निराकरण को अद्वैतवाद का बहुत उपकारक समझ कर मान लिया ।† विज्ञानवादियों और अद्वैतवादियों में है भी बहुत समता । नागार्जुन जहां सब कुछ (यहां तक कि चेतना बौद्ध-सम्मत विज्ञान तथा तैर्थिक-सम्मत आत्मा) को भी संवृत्ति-सत्य मानते थे वहां इन दोनों ने उसे परमार्थ-सत्य कहना शुरू किया । एक ने उसे विज्ञान शब्द से कहा और दूसरे ने ब्रह्म से । दोनों ने उसके अतिरिक्त बाह्य सत्ता को मिथ्या माना । दोनों ने उसे अनुच्छिन्न या नाश न होने वाला कहा पर एक अन्तर बना रहा । विज्ञान था परिवर्तनशील क्योंकि उसे प्रतीत्यसमुत्पन्न माना जाता था और ब्रह्म था कूटस्थ यद्यपि वह भी "जन्माद्यस्य यतः" (१।१।२) "आत्मकृतेः परिणामात्" (१।४।२६) में बादरायण द्वारा परिणामशील कहा जा चुका था । सो इस ब्रह्म के परिणाम की नये ढंग से व्याख्या करने की जरूरत पड़ी । नागार्जुन ने परिणामवाद (=प्रतीत्यसमुत्पाद) के आधार पर सब कुछ को अशाश्वत और अनुच्छिन्न कह चुके थे । अनुच्छेद अंश से तो अद्वैतवादी सहमत थे पर अशाश्वत अंश उनकी नित्यदृष्टि का कांटा था अतः प्रतीत्यसमुत्पाद या परिणामवाद जो कारण-कार्य का नियम था और नियम को सभी परमार्थ समझते थे मिथ्या करार दे दिया गया, * और वह बेचारा अब संवृतिसत्य मात्र रह गया । परिणाम या प्रतीत्य समुत्पाद माना गया पर विज्ञान-वादियों ने उसे परमार्थ सत्य माना अतः उन्हें विज्ञान को क्षणिक या परिवर्तनशील मानना पड़ा । ब्रह्मवादियों ने उसे मिथ्या माना सो उनका 'ब्रह्म' परिवर्तन से अछूता कूटस्थ बना रहा । अस्तु, इस दृष्टिभेद के कारण विज्ञान और ब्रह्म जो एक होने जा रहे थे अलग-अलग बने रहे पर अलग होते हुए भी ब्रह्मवाद पर जो बौद्धदर्शन की अमिट छाप पड़ी वह न मिटाई जा सकती थी ।

विज्ञानवादियों ने विज्ञान के अतिरिक्त बाह्य-सत्ता का निषेध तो कर दिया पर व्यवहार बिना बाह्य-सत्ता के चल नहीं सकता था । सो उन्होंने विज्ञान के अतिरिक्त यच्च यान्वमात्र व्यवहार को औपचारिक माना । अन्धे को यदि कोई 'सुलोचन' कहे, मूर्ख को 'बृहस्पति' कहे, बाहीक को 'बैल' (गौर्वाहीकः) कहे या गंवार को 'गधा' कहे तो इन प्रयोगों को औपचारिक कहना होगा क्योंकि अन्धे आदि मे सुलोचनत्व आदि धर्म नहीं है और जो जहां नहीं, उसका उसमें प्रयोग करना उपचार कहलाता है ।†† आत्मा (=अपनापन, मैं और मेरापन) तथा धर्म (=अपने से पृथक् सब पदार्थ) दोनों की सत्ता औपचारिक है क्योंकि विज्ञान के परिणाम के अतिरिक्त दोनों हैं ही नहीं । विज्ञान के अतिरिक्त "और सब कुछ" मिथ्या है और उसी मिथ्या की व्यवहार सिद्धि के लिए यह अन्य मिथ्या-न्तर है "उपचार", जिसे आगे चलकर शंकर ने 'अध्यास', 'अविद्या' और 'माया' कहा । विज्ञानैकत्ववाद सिद्ध करने के लिए जिस जगत् को वसुबन्धु ने

† गौडपादकारिका ४।२५ ।

* गौड़पादकारिका ३।२५ । †† त्रिंशिका १ पर 'उपचार' शब्द की व्याख्या करते स्थिरमति—"यत्र यच्च नास्ति तत् तत्रोपचर्यते ।

मिथ्या कहा उसने ही वसुबन्धु को अविद्या (=उपचार) में फेंक कर अपनी सिद्धि करवा ही ली।

यहां बौद्ध दर्शन के विकास की जो रूप-रेखा प्रस्तुत की गई है, उसका श्रेय उस प्राचीन-सामग्री को है, जो बहुत कुछ हमारे युग में उपलब्ध हुई है। वस्तुतः इसके सहारे बौद्ध धर्म एवं दर्शन तथा उसके साहित्य का नये सिरे से अभिज्ञान हुआ है।

इस नये अभिज्ञान एवं नयी साहित्यिक सम्पत्ति ने हमारी जानकारी में एक नया परिवर्तन उत्पन्न कर दिया है। कुछ ही दिन पहले हम बुद्ध तथा उसके धर्म को बहुत गलत समझ रहे थे, बौद्ध तत्त्वचिंतन की हमें कितनी गलत जानकारी थी; यह हम आज समझ रहे हैं। पर हम तब विवश थे, तब हमारे पास केवल बौद्ध विरोधियों ने जो कुछ बौद्ध धर्म और दर्शन के बारे में बतला रखा था उसके अतिरिक्त हमारे पास जानने को कुछ न था। पर आज हम उतने अकिंचन नहीं हैं। आज बुद्ध के धर्म और दर्शन की वह सामग्री हमारे पास है कि हम उसे ठीक-ठीक समझ सकते हैं।

शंकर ने बुद्ध को 'अनाप-शनाप बोलने वाला दुनिया का दुश्मन'१ कहा! कुमारिल ने बुद्ध के उपदेश को 'कुत्ते की खाल में पड़े दूध'२ जैसा निकम्मा बताया! जिसके पास जबान है उसे बोलने से कौन रोक सकता है? फिर भी इस प्रकार के फूहड़पने का जवाब किसी भले आदमी के पास हो ही क्या सकता है? आज जिसने बुद्ध के धर्म और विनय की सरसरी तौर पर भी पड़ताल की है वह उन्हें दुनिया का गुमराह करने वाला नहीं कह सकता। बुद्ध का धर्म बिल्कुल स्पष्ट है। उसमें विरोध या असंगतियां नहीं हैं। करुणाकुल बुद्ध ने साफ-साफ कहा है: 'विजय से वैर पैदा होता है, पराजित दुःखी होता है, जो जय और पराजय को छोड़ चुका है उसे ही सुख है, उसे ही शांति है।'३ जानकारों ने इसीलिए कहा है: "तथागत ने थोड़े में केवल 'अहिंसा' के तीन अक्षरों में धर्म का वर्णन किया है।"४ क्या सचमुच यह गुमराह करने वाला रास्ता है?

कर्म और उसके फल को वैदिक, बौद्ध और जैन तीनों मानते हैं। कर्मफल का देने वाला ईश्वर है और कर्मफल का भोगनेवाला जीव है। सांख्यों और जैनों को कर्मफल के भोग में ईश्वर का हस्तक्षेप मंजूर नहीं है। वेदान्ती भी इस प्रकार के हुकूमत करने वाले ईश्वर को नहीं मानते। हां, अक्षपाद और कणाद को इस प्रकार के ईश्वर की जरूरत है। ईश्वर की बात यहां छोड़ देनी

---

१. 'सुगतेन स्पष्टीकृतमात्मनोऽसम्बद्धप्रलापित्वं प्रद्वेषो वा प्रजासु।" (ब्रह्मसूत्र २।२।३२ पद)।

२. सन्मूलमपि अहिंसादि श्वदतिनिक्षिप्तक्षीरवदनुपयोगि।' (तन्त्रवार्तिक)।

३. 'जयं वेरं पसवति दुःखं सेति पराजितो उपसन्तो सुखं सेति हित्वा जयपराजयं" ॥ धम्मपद १५।५

४. 'धर्मं समासतोऽहिंसां वर्णयन्ति तथागताः।' चतुःशतक।

है, केवल उसके गुलाम 'जीव' की कहानी पर ध्यान देना है। बौद्धों को छोड़ कर सभी जीव को एक टिकाऊ जीव समझते हैं। दार्शनिक भाषा में कहेंगे कि जीव नित्य है। जीव शब्द भी यहां छोड़ देना चाहता हूँ। इसके लिए 'आत्मा' शब्द को लेना है। आत्मा का अर्थ कुछ विस्तृत है, जो लोग ईश्वर को मानते हैं उनका ईश्वर भी इसमें शामिल हो जाता है। वेदान्ती आदि दार्शनिक जो आत्मा के अतिरिक्त और किसी पदार्थ की उससे अलग सत्ता नहीं मानते उनका भी इसी शब्द से काम चल जाता है। और बौद्ध लोग तो आत्मा को मानते ही नहीं वे भी इसी में 'न' जोड़ कर काम चला लेते हैं।

कर्म है और उसका फल है पर उसका आश्रय कोई टिकाऊ या स्थिर किं वा नित्य आत्मा नहीं है, यह बुद्ध की मान्यता है। आत्मा क्या, सत्ता मात्र में जो सत् या स्थिरता का भान होता है, वह असल में नहीं है। बुद्ध ने इसे इस प्रकार समझाया है : बीज होने पर अंकुर होता है पर बीज ही अंकुर नहीं है और बीज से पृथक् अथवा उससे भिन्न कुछ और वस्तु भी अंकुर नहीं है। अतः बीज शाश्वत स्थिर टिकाऊ या नित्य नहीं है क्योंकि उसका अंकुर रूपमें परिवर्तन देखा जाता है। वह उच्छिन्न या नष्ट भी नहीं होता क्योंकि अंकुर बीज ही का तो रूपान्तर है।[१] यह एक उदाहरण है जिसके द्वारा सिद्धांत का स्पष्टीकरण है। बुद्ध का अपना मत है कि न तो कुछ भी अशाश्वत है और न कुछ भी उच्छिन्न होता है। प्रत्येक वस्तु अपने कारण से उत्पन्न होती है। कार्य कारण से न तो अन्य या भिन्न ही होता है और न अनन्य ही, कार्य कारण से अन्य होता तो कारण का उच्छेद मानना पड़ता, यदि कार्य अनन्य अर्थात् कारण-रूप ही होता तो उसे शाश्वत या नित्य मानना पड़ता। पर दोनों बातें नहीं हैं, इसलिए न कोई शाश्वत है और न किसी का उच्छेद होता है। 'अशाश्वतानुच्छेदवाद' बुद्ध का दार्शनिक सिद्धांत है। यह सकारणता और परिवर्तन के नियम के आधार पर विकसित हुआ है। इस नियम को प्रतीत्य-समुत्पाद कहते हैं। जिसका अक्षरार्थ है : समुत्पादः=उत्पत्ति, कार्यमात्र का होना; प्रतीत्य (एव भवति)=कारण के (प्राप्त) होने पर ही होता है। बुद्ध के बाद जितने भी बौद्ध दार्शनिक हुए वे "प्रतीत्यसमुत्पाद' तथा 'अशाश्वतानुच्छेदवाद' के सहारे ही अपने दार्शनिक विचारों को व्यक्त करते रहे हैं। सब कुछ ही जब अशाश्वत और अनुच्छिन्न है तब 'आत्मा' भी इसका अपवाद नहीं है। इस बेटिकाऊ, पर न नष्ट होने वाले, आत्मा को बौद्ध चित्त या विज्ञान कहते हैं।

जिस अशाश्वतानुच्छेदवाद की पद-पद पर बौद्ध दर्शनों में चर्चा है उसको पूर्वपक्ष के रूप में कहीं भी ब्राह्मण और जैन दर्शनों ने छुआ तक नहीं। यह बात बड़े आश्चर्य में डालने वाली है। जहां भी बौद्ध दर्शन की आलोचना की गई है वहां सर्वत्र उसे उच्छेदवादी दिखलाया है—अभाववादी बताया है। शंकरा-

---

१. बीजस्य सतो यथाकुंरो न च यो बीजु स चैव अंकुरो।
न च अन्यु ततो न चैव तदेवमनुच्छेद अशाश्वत धर्मता।—ललितविस्तर।

चार्य साफ ही सौगत दर्शन का अभिप्राय समझाते कहते है 'सौगत दर्शन ठीक नहीं क्योंकि वे किसी कारण को स्थिर एवं अनुगत नहीं मानते, जिसका निष्कर्ष है अभाव से भाव की उत्पत्ति को मानना,'* सौगत दर्शन को शंकर 'वैनाशिक' कहते हैं यद्यपि सौगतों ने जहां किसी वस्तु को शाश्वत नहीं माना है वहां उसका विनाश या उच्छेद मानने से भी इनकार कर दिया है। यह एक नमूना है और इस प्रकार के अनेकों नमूने हैं जिनमें इस प्रकार गलत रूप मे बौद्ध दर्शन को उपस्थित किया गया हैं । खैर, विरोध करने मे अब तक बुद्ध को उच्छेदवादी या वैनाशिक बनाया गया सो बनाया गया पर अब उन्हे उच्छेदवादी या वैनाशिक नहीं कहा जा सकता।

आज हम कह रहे है कि बुद्ध वैनाशिक या उच्छेदवादी नहीं थे पर क्या इस पर वे लोग विश्वास करेंगे या मान लेगें जो बुद्धि पर पोथी धर कर तर्क करने बैठते है। तर्क में पोथी-पत्रा काम नहीं दिया करता । यदि देता तो अपने तत्त्व या मतलब के बचाव के लिए जल्प और वितण्डा की जरूरत ही क्या थी ?† जो लोग छल-बल से, जल्प और वितण्डा से दूसरों को चुप कर देना ही तत्त्व-रक्षा का साधन समझते हैं, उनसे इस बात की आशा करना भूल है कि वे दूसरे के मत को सही-सही देख सकेंगें । उनकी यही कौन सी कम भलमनसाहत है जो जल्प और वितण्डा को तत्त्वरक्षा का साधन कहते हुए मुंह पर थप्पड़ लगा देने को तत्त्वरक्षा का साधन नहीं कहा । इस छली मनोवृत्ति के कारण बौद्ध जिस रूप में अपने दार्शनिक सिद्धांत मानते है उनको उसी रूप में उपस्थित कर आलोचना नहीं की गयी, फलतः उन आलोचनाओं के द्वारा हम जिस रूप में बौद्ध दर्शन की झलक पाते है वह उसके स्वरूप से सर्वथा उलटी है ।

हम जिस प्रतीत्यसमुत्पाद और उसके आधार पर विकसित अशाश्वत-अनुच्छेदवाद का जिक्र कर चुके है उसके आधार पर ही पिछली बौद्ध दार्शनिक प्रक्रिया ठहरी हुई है । विभाषा और उसके मानने वाले वैभाषिक सम्प्रदाय का ऊपर जिक्र हुआ है । इन्होंने बुद्ध वचन के अनुसार सता को प्रतीत्यसमुत्पन्न तथा अशाश्वत और अनुच्छिन्न कहा । सत्ता का वर्गीकरण पांच स्कन्धों में है । बौद्ध मान्यता के अनुसार कोई 'एक' वस्तु नहीं है प्रत्युत जहां 'एक' का भान होता है वहां 'अनेकों' का समूह' हुआ करता है । वृक्ष 'एक' पदार्थ है पर वह है क्या? जड़, तना, शाखा और पत्र आदि का समूह ही तो है । हरएक पदार्थ का यही हाल है। इस भाव को व्यक्त करने के लिए ही स्कन्ध शब्द का प्रयोग होता है। स्कन्ध का अर्थ राशि या ढेर है । प्रत्येक वस्तु अनेकों का एक ढेर है उसमें जो 'एक' की प्रतीति है वह व्यवहारतः ठीक हो सकती है पर परमार्थतः है ही नहीं। प्रत्येक पदार्थ अपने अवयवों का स्कन्ध या ढेर है । नैयायिक पदार्थ को अव-

---

* अनुपपन्नो वैनाशिकसमयः, यतः स्थिरमनुयायिकारणमनभ्युपगच्छताम-भावाद्भावोत्पत्तिरित्येतदापद्यते'। ब्रह्मसूत्र २।२।२६ पर शारीरकभाष्य ।

† तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्ररोहसंरक्षणार्थं कंटकशाखावरणवत् । न्यायसूत्र ४।२।५०

यवों का ढेर न मान कर अवयवों से अतिरिक्त एक अवयवी की कल्पना करते हैं। अवयवी को मानकर भी अक्षपाद ने मान लिया है कि 'अवयवी का अभिमान दोष अर्थात् राग, द्वेष और मोह का कारण है,।' (न्यायसूत्र ४।२।३)। यद्यपि अवयवों से व्यतिरिक्त अवयवी की सत्ता असिद्ध है। 'एक' की प्रतीति से अवयवी की सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि 'एक' अपने आप में ही सिद्ध नहीं है। 'एकत्व' को सिद्ध मान कर हिन्दू तार्किकों ने 'अवयवी' की सिद्धि की है। अवयवों के स्कन्ध या ढेर को ही वैभाषिक पदार्थ मानते हैं। अवयव के लिए 'परमाणु' शब्द का प्रयोग होता है क्योंकि स्थूल पदार्थ का जो सूक्ष्म से सूक्ष्म अवयव है वह परमाणु है। इस प्रकार परमाणु-पुंज ही पदार्थ है यह निष्कर्ष निकला। हिन्दू तार्किक भी परमाणु मानते है पर उनके यहां परमाणु-पुंज पदार्थ नहीं है प्रत्युत उनसे व्यतिरिक्त एक 'अवयवी' पदार्थ है। परमाणु, पथिवी, जल, तेज, और वायु के होते हैं। यह चार भूत कहलाते हैं। इन चार भूतों का कारण 'अविज्ञप्ति' है। अविज्ञप्ति क्या है सो तो ठीक-ठीक पता नहीं। सचमुच ही वह अ-विज्ञप्ति न जानी गयी चीज ही है। खैर, ये चार भूत, अविज्ञप्ति, पांच ज्ञानेन्द्रियां और उनके पांच, रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श विषय एवं कुल पन्द्रह को रूप स्कन्ध कहते हैं। चक्षु से रूप का, श्रोत्र से शब्द का, नासिका से गन्ध का, जिह्वा से रस का, शरीर (=काय, स्पर्शेन्द्रिय) से स्पर्श का और मन से धर्म (=मानसिक भावों) का जो ज्ञान सामान्यतया होता है उसे विज्ञान स्कन्ध कहते है। यदि इस ज्ञान में विषय की विशेषताएं भी झलकें तो वह 'संज्ञास्कन्ध' होगा। जैसे आंख से कोई स्त्री दिखाई पड़ी यह तो विज्ञान स्कन्ध हुआ पर यदि इस ज्ञान में स्त्री का रंग, रूप, कद आदि की प्रतीति भी शामिल हो तो वह संज्ञास्कन्ध होगा क्योंकि यह सं=सम्यक् या विशेष रूप से ज्ञा=जानकारी हुई है। सुख-दुःख की अनुभूति का नाम वेदना-स्कन्ध है। इन चारों स्कन्धों से जो कुछ बचा है वह संस्कार स्कन्ध है। इन पांचों स्कन्धों की सत्ता प्रतीत्यसमुत्पन्न होने से अशाश्वत एवं अनुच्छिन्न है। यह बात वैभाषिक तो मानते ही हैं पर सौत्रान्तिक भी इससे सहमत है।

इस दार्शनिक धारा में, जैसा कि ऊपर कह आये हैं, नागार्जुन ने एक और नूतन बात पैदा कर दी। उन्होंने कहा कि पांचों स्कन्धों की सत्ता निरपेक्ष नहीं है। किन्तु उनकी सत्ता सापेक्ष है। उन्होंने साफ-साफ कहा है : कर्म कर्म करने वाले के बिना नहीं हो सकता। जब कर्म होता है तब कर्म का करने वाला भी होता है। सो कर्म और उसको करने वाला अर्थात् कारक अपनी-अपनी सिद्धि के लिए परस्पर की अपेक्षा रखते है। यह एक उदाहरण है। वस्तुतः प्रत्येक सत्ता का यही हाल है। सब की सिद्धि सापेक्ष ही है।* सत्ता की सिद्धि सापेक्ष है, निरपेक्ष नहीं। इसी का नाम 'शून्यवाद' है। शून्यवाद निरपेक्ष सत्ता की सिद्धि से इन्कार करता है। पता नहीं इसमें कौन सी असंगति है जिसे देख कर शंकर ने इसे 'सर्वप्रमाणविप्रतिषिद्ध' (ब्रह्मसूत्र २।२।३१) कहा है। इस शून्यवाद का विकास

* माध्यमिक कारिका ८।१२,१३।

भी प्रतीत्यसमुत्पाद पर ही अवलम्बित है। प्रतीत्यसमुत्पाद ने किस प्रकार अशाश्वत और अनुच्छेदवाद का स्थापन किया यह ऊपर कहा गया है। अशाश्वत और अनुच्छिन्न या परिवर्तनशील सत्ता में जो सत्ता की प्रतीति हो रही है वह भी निरपेक्ष नहीं है क्योंकि कार्य की सत्ता कारण की सत्ता की अपेक्षा रखती है। माध्यमिक शून्यवाद के प्रतिपादक नागार्जुन की मूल माध्यमिका कारिकाओं पर टीका करते समय इसीलिए चन्द्रकीर्ति ने प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ ही किया है: 'हेतुप्रत्यय-सापेक्षो भावानामुत्पादः।' (पृ० ५) सो प्रतीत्यसमुत्पाद कोरा सकारणता और परिवर्तन का नियम नहीं है प्रत्युत् वह सत्ता की सिद्धि भी सापेक्ष मान कर निरपेक्ष सत्ता का खण्डन करता है।

यह खंडन प्रणाली बड़ी रोचक है। काम बिना किये नहीं होता। कल्पना कीजिए, मैं रोटी बनाना चाहता हूँ। रोटी बनाना काम है जो मुझे करना है सो मैं रोटी का बनाने वाला या कर्ता या कारक हुआ। रोटी जिसे बनाना है वह मेरा काम या कर्म हुआ। पर इस काम के लिए मुझे कुछ करना-धरना भी पड़ेगा। खाली बैठे रहने से तो काम न चलेगा सो यह करना धरना या क्रिया भी इसके लिए चाहिएं। पर इतने से भी काम नहीं चल सकता। रोटी के लिए आटा चाहिए, पकाने के लिए चूल्हा आदि चाहिएं। इन्हें कारण शब्द से कह सकते हैं। रोटी का कारण आटा है और रोटी उसका कार्य है पर यदि मैं हाथों से काम न लूं तो यह कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता सो हाथ भी इसके असाधारण कारण हुए। इन कर्ता, कर्म, हेतु या कारण तथा कार्य की सिद्धि पर नागार्जुन के शब्दों में विवेचना करनी है।

यदि कर्म को स्वभावतः (निरपेक्षतः) सत् मानें तो कर्म को कर्ता की जरूरत न रहेगी और कर्ता भी निकम्मा हो जायगा क्योंकि उसके करने योग्य कर्म तो स्वभाव सत् है ही फिर उसके करने का सवाल ही क्या? यदि यह मानें कि कर्म स्वभाव से असत् है और वह असत् कर्ता के द्वारा किया जाता है तब बड़ी आफत होगी। कर्म बिना हेतु के हो जायगा, और कर्ता को भी निर्हेतुक ही कहना पड़ेगा। जब हेतु ही नहीं रहा तब कार्य-कारण का सवाल ही क्या? कार्य और कारण की व्यवस्था ही जब नहीं रही तब किसी कर्म या काम के करने की बात ही नहीं उठती और कर्ता-कारण कोई चीज ही नहीं रहते। इस प्रकार जब कुछ करने-धरने आदि की बात ही नहीं रही तब धर्म और अधर्म किसी की चर्चा बेकार है। (माध्यमिक कारिका ८।२-५)। अतः स्वभावतः या निरपेक्षतः न तो सत्ता है और न अभाव ही है प्रत्युत काम के लिए जैसे कर्ता या करने वाले की अपेक्षा है वैसे ही कर्ता को काम या कर्म की अपेक्षा है। दोनों को बिना सापेक्ष माने सिद्धि नहीं हो सकती। सत्ता को सापेक्ष सिद्ध मानने पर भी व्यवहार में विरोध नहीं आता क्योंकि तत्वचिन्तक भी व्यवहार के समय लोक-प्रमाण पर ही चलता है। लोकप्रमाणक सत्य को संवृति-सत्य कहते हैं। संवृति-सत्य के अनुरोध से सत्ता को निरपेक्ष कहना दोष नहीं पर परमार्थ-सत्य के अनुरोध से उसकी सिद्धि सापेक्ष है। यह सापेक्षता, सकारणता और परिवर्तन का नियम ही नागार्जुन के मत से

प्रतीत्यसमुत्पाद है। प्रतीत्यसमुत्पाद को ही उन्होंने शून्यवाद कहा है; 'यः प्रतीत्य समुत्पादः शून्यतां तां प्रचक्ष्महे' (माध्यमिक कारिका)। शून्यवाद के इतने स्पष्ट रहने पर भी यदि लोग ऊल-जुलूल ही उसे समझते रहें तो इसमें शून्यवाद के प्रवर्तक का दोष ही क्या ? 'न ह्येव स्थाणोरपराधः, यदेनमन्धो न पश्यति, पुरुषापराधः स भवति'।

जैसा कि पहले ही बताया गया है नागार्जुन के अनन्तर असंग और वसुबन्धु फिर दो क्रांतिकारी दार्शनिक हुए। इन्होंने चित्त या विज्ञान को तो निरपेक्ष सिद्ध माना पर बाह्यार्थ को विज्ञानसापेक्ष कहा। फलतः बाह्य अर्थ भी विज्ञान के परिणाम या परिवर्तन का एक रूप बताया गया। जो बाह्य अर्थ को निरपेक्ष मानते थे उनका इन्होंने खंडन किया। सौत्रान्तिक और वैभाषिक परमाणु पुंज को पदार्थ मानते थे। कणाद और अक्षपाद परमाणुओं से अतिरिक्त अवयवी की कल्पना करते थे। वसुबन्धु के बाह्यार्थ निराकरण को गौड़पाद ने उसी रूप में मान लिया। यह मानना जरूरी भी था क्योंकि वेदान्त में भी बाह्य सत्ता ब्रह्म-सापेक्ष ही है, निरपेक्ष नहीं।

यहां हमने बुद्ध के दार्शनिक सिद्धांत प्रतीत्यसमुत्पाद की पड़ताल की है। बुद्ध ने किसी को न तो शाश्वत माना और न किसी का उच्छेद या विनाश ही माना। सौत्रान्तिकों और वैभाषिकों ने भी इसी बात को माना और विवेचनापूर्वक पांचों स्कन्धों की निरपेक्ष सत्ता मानी। नागार्जुन ने इनकी सत्ता को सापेक्ष कहा। वसुबन्धु ने विज्ञान की सत्ता को निरपेक्ष और बाह्य सत्ता को उसी प्रकार विज्ञान सापेक्ष कहा जैसा कि वेदान्तियों ने बाद में बाह्य सत्ता को ब्रह्म-सापेक्ष माना। पर किसी ने न तो किसी को शाश्वत माना न किसी का उच्छेद। इतना स्पष्ट होते हुए भी विरोधी आलोचकों ने सौगत दर्शन को वैनाशिक या उच्छेदवादी कहा है जो नितान्त भ्रम है। कदाचित् सौगत दर्शन को ठीक-ठीक जानकारी पाने का उन लोगों ने प्रयास ही नहीं किया।

बौद्ध दर्शन उच्छेद-विनाश या अभाववाद को मानता है, यही बात उसके आलोचकों ने बता रखी थी और इसी को मान कर उन्होंने बड़े-बड़े दोष दिखाये थे। पर हम देखते है, उन्होंने बौद्ध दर्शन को जिस रूप में उपस्थित किया वह उसका असली रूप नहीं है फिर भला उस पर थोपे दोष यथार्थ हो ही कैसे सकते हैं। बुद्ध का अवतार असुरों की प्रवंचना के लिए हुआ और उनका दर्शन आत्मा का उच्छेद मानता है। यह दो व्यापक बातें जिनके उल्लेख से ब्राह्मण ग्रन्थ भरे हैं, आज गलत सिद्ध हो रहे हैं। आज बुद्ध का धर्म और दर्शन हमारे सामने है। बुद्ध ने आचरण के क्षेत्र में जैसे काय-पीड़न तथा भोग-विलास के जीवन को मना कर मध्यम मार्ग से चलने का उपदेश दिया वैसे ही दार्शनिक क्षेत्रों में शाश्वत और उच्छेद दोनों मान्यताओं से बच कर अशाश्वत और अनुच्छेदवाद का स्थापन किया। बौद्ध दार्शनिकों ने परिवर्तन के जिस वैज्ञानिक सिद्धांत प्रतीत्यसमुत्पाद की व्याख्या

के व्याज से अमूल्य ज्ञान निधि दी है, वह और उसके द्रष्टा बुद्ध दोनों नमस्य हैं :—

अनिरोधमनुत्पादमनुच्छेदमशाश्वतम् ।
अनेकार्थमनानार्थमनागममनिर्गमम् ।।
यः प्रतीत्यसमुत्पादं प्रपंचोपशमं शिवम् ।
देशयामास सम्बुद्धस्तं वन्दे वदतां वरम् ।।

—नागार्जुन

# अनुक्रमणी